# इस्लाम के चारों ओर

डॉ० कौसर यज़दानी नदवी

# विषय-सूची




**Islam Ke Charon Ore (Hindi)**

इस्लामी साहित्य ट्रस्ट प्रकाशन न० -111





**मर्कज़ी मक्तबा इस्लामी पब्लिशर्स**

D-307, दावत नगर, अबुल फ़ज़्ल इन्कलेव,
जामिया नगर, नई दिल्ली-110025
दूरभाष : 26981652, 26984347

पृष्ठ : 40
संस्करण : फरवरी 2020 ई०
संख्या : 1100
मूल्य : ₹25.00

मुद्रक : एच० एस० प्रिंटर्स, ट्रोनिका सिटी


# कुछ बातें

हमारा विश्वास है कि इस्लाम धर्म ही सत्य पर आधारित धर्म है। ऐसा क्यों है ? इस सवाल का जवाब पाने के लिए हम प्रिय पाठकों से निवेदन करेंगे कि वे क़ुरआन का निष्पक्ष अध्ययन करें और उसे समझें। अधिक विस्तार में जाने के लिए इस्लामी लिटरेचर का अध्ययन करें।

इस पुस्तक में केवल उन्हीं विषयों को छेड़ा गया है, जिन पर किसी न किसी रूप में आपत्ति की जाती रही है। इन आपत्तियों को पढ़ने के बाद ऐसा महसूस होता है मानो ग़लतफ़हमियों की मोटी चादर इस्लाम के चारों ओर लपेट दी गई है। यह पुस्तक इसी चादर को फाड़कर इस्लाम का सही रूप निखारने की एक कोशिश है।

ग़लतफ़हमियाँ बहुत हैं, आपत्तियाँ अनेकों हैं, सब पर कुछ लिखना और विस्तार में लिखना बहुत ही कठिन काम है। इस पुस्तक में इनमें से कुछ विषयों को ही चुना गया है और उनका जवाब किसी एक पहलू ही से देने की कोशिश की गई है, हर विषय के हर पहलू को छेड़कर विषय को गूढ़ बनाना इस पुस्तक का ध्येय नहीं है।

आशा है अनेक अवसरों पर लिखे गए इन लेखों को पसन्द किया जाएगा।

अल्लाह से दुआ है कि वह लेखक को उसके ध्येय में सफल करें।

**डॉ० कौसर यज़दानी नदवी**

बिसमिल्लाहिर्रहमानिर्रहीम
(अल्लाह के नाम से जो बड़ा कृपाशील, अत्यन्त दयावान है)

(1)

# इसे भी आज़माइए

ट्रेन की यात्रा करते समय एक बार मैं ऐसे डिब्बे में घुसा जहाँ दो-तीन सज्जन किसी समस्या पर आपस ही में जूझ रहे थे। क़रीब की सीट के एक भाग पर बैठने की मुझे इजाज़त दे दी गई। वार्ता चरम सीमा को पहुँची हुई थी। थोड़ी देर में मुझे यह पता चल गया कि वार्ता देश में फैली हुई अराजकता व भ्रष्टाचार से सम्बन्ध रखती है।

एक सज्जन कह रहे थे—

"कोई भी कचहरी, कोई भी अदालत और कोई भी दफ़्तर अब ऐसा नहीं रहा है जहाँ घूसख़ोरी आम न हो गई हो। अदालतें और कचहरियाँ तो बदनाम थीं ही, अब तो वे विभाग भी इन रोगों के ग्रास बन गए हैं जिन्हें अब तक भारतवासी ईमानदार समझते थे, जिनके बारे में जनता का विचार था कि यही एकमात्र जागरूक एवं निष्कलंक विभाग है।"

उदाहरण में उन्होंने डाक व तार विभाग को लिया और कहने लगे—

"डाक विभाग अति विश्वसनीय विभाग था। पर देहात में घूमते रहने और वहाँ के हालात मालूम करते रहने पर ऐसा दीख पड़ता है मानो इस विभाग को भी घुन लग गया है। वहाँ भी 'इनाम' और 'बख़्शिश' के नाम पर 500 रु० के हर मनीऑर्डर पर 5 रु० लिया जाता है। फिर देहात ही क्यों, शहरों में भी यह वबा फूट पड़ी है और ख़ास तौर से मनीऑर्डरों पर 'इनाम' लेने की प्रथा तो आम होती जा रही है।"

इसी बीच दूसरे सज्जन बोल पड़े—

"इस सिलसिले की एक दिलचस्प बात यह है कि देहातों में अब तो मनीऑर्डर भी उन्हीं को जल्द दिया जाता है जो इनाम में देर न करें, वरन् जो इनाम देने में तनिक भी अकड़ दिखाते हैं, उनको मनीऑर्डर देर में देकर परेशान किया जाता है या उनके मनीऑर्डर पर 'लापता' लिखकर वापस कर दिया जाता है।"

तीसरे व्यक्ति ने अपने विचार इस प्रकार प्रकट किए—

"भ्रष्टाचार कहाँ नहीं है। उच्च से उच्च अधिकारी से लेकर एक निम्न कोटि का चपरासी भी इसी रोग का ग्रास है। सच तो यह है कि भावी सन्तान का चरित्र-निर्माण करनेवाले अध्यापकों से लेकर जन-धन की रक्षा करनेवाली पुलिस तक, यात्रियों को सुविधा पहुँचानेवाले परिवहन-विभाग से लेकर जन-सेना

करनेवाले सार्वजनिक विभाग तक, सभी तो भ्रष्टाचार में लिप्त हैं। आख़िर इसका रोना कहाँ तक रोया जाए?"

यह वार्ता यहाँ तक पहुँचकर कुछ ऐसी ठंडी पड़ गई और वार्ता में भाग लेनेवालों पर निराशा की रेखा कुछ इस प्रकार खिँच गई कि मैं चकित हो उठा। गर्जना करनेवाले और भ्रष्टाचार का पोल खोल-खोलकर दिखानेवाले ये महानुभाव आखिर मौन क्यों हैं? मुझसे न रहा गया और मैं भी मौन भंग करते हुए सक्रिय रूप से इस वार्ता-सागर में कूद पड़ा।

"भाई साहब! भ्रष्टाचार व दुराचार की व्यापकता तो आपने खोल-खोलकर बयान की। अब मेरे मन में इसकी उत्सुकता उभर आई है कि इसका इलाज क्या हो?"

"इसका इलाज-विलाज कुछ नहीं—ऐसे ही रहेगा। हर-हर व्यक्ति अपने पेट के लिए भरसक प्रयत्न करता रहेगा, यहाँ तक कि उसे मौत आ जाएगी और उसका नाटकीय जीवन समाप्त हो जाएगा।" पहले सज्जन ने मेरे सवाल के ज़वाब में कहा।

उनके कहने का अन्दाज़ कुछ ऐसा था कि वातावरण पर स्वतः निराशा की निशा छा गई।

"नहीं, इसके इलाज के तौर पर अगर सरकार कुछ करे तो अच्छा हो।" दूसरे सज्जन ने बड़े ही गम्भीर भाव से अपना सुझाव रखा। उन्होंने बताया कि सरकार अगर भ्रष्टाचार को रोकने के लिए कोई क़ानून बना दे तो फिर क़ानून के भय से लोग भ्रष्टाचार से दूर भागेंगे।"

उक्त सज्जन की यह दलील सुनकर मुझसे न रहा गया। मैंने तुरन्त कहा—

"श्रीमान्! गुस्ताख़ी तो होगी, पर मैं इतना कहूँगा कि आज भारतीय विधान और मुल्की क़ानून में हर-हर बुराई को अपराध घोषित किया गया है और सबके लिए अलग-अलग सज़ाएँ तय कर दी गई हैं, लेकिन फिर भी अपराधों में दिनों-दिन की यह बढ़ोतरी साबित करती है कि अपराध को रोकने के लिए कड़े से कड़ा क़ानून भी काफ़ी नहीं है और मान लीजिए कि दण्ड-विधान द्वारा आप अपराधों में कमी कर भी दें और समाज में अपराधी रुझानों को पनपने न दें या लोग इतना साहस न जुटा पाएँ कि खुलेआम अपराध कर सकें, पर उन बुराइयों या अपराधों का क्या करेंगे जो गुप्त रूप से बन्द कमरों में किए जाते हैं और किए जाते रहेंगे।" मैंने अपनी बात ख़त्म न करते हुए फिर कहा—"मुझे अपने इस दावे में पूरा यक़ीन है कि ये छिप-छिपाकर की जानेवाली बुराइयाँ खुलेआम की जानेवाली बुराइयों के मुक़ाबले में अपराधी रुझानों को अधिक बढ़ावा देती हैं और जब अपराधी रुझान समाज में मौजूद हो, भले ही वह व्यक्तिगत स्तर पर

हों और बन्द कमरे में प्रकट होता हो, तो क्या आप विश्वास करेंगे कि इससे समाज दूषित व कलंकित होने से बचा रहेगा ?"

मेरी इस आलोचना से उक्त सज्जन सकपकाए। अभी वह कुछ कहने ही वाले थे कि तीसरे सज्जन ने वार्ता भंग कर दी। बोले—

"मेरे भाई ! सरकार के बनाए हुए क़ानूनों के साथ-साथ दो उपाय और हैं। एक यह कि जनता में भ्रष्टाचार के विरुद्ध चेतना जगाई जाए और दूसरे यह कि सरकारी कर्मचारियों में भ्रष्टाचार को रोकने के लिए गुप्तचर विभाग को दृढ़ किया जाए।"

मुझे हँसी आ गई। मैंने कहा—

"भाई ! ये सब ऊपरी बातें हैं। जब आप यह मानते हैं कि देश का कोई भी विभाग भ्रष्टाचार से बचा नहीं है तो आपने गुप्तचर विभाग को उससे क्यों मुक्त कर दिया, जबकि वह भी हमारे ही देश का अंग है। रह गया जनता में भ्रष्टाचार के विरुद्ध जागरुकता पैदा करना तो इस सम्बन्ध में न जाने कितने सुधारकों ने काम किए हैं, कर रहे हैं और करते रहेंगे। लेकिन जब तक किसी ठोस बुनियाद पर यह काम न होगा, किसी तरह भी समस्या हल नहीं हो सकती। क्या भावेजी के विभिन्न आन्दोलन आपके सामने नहीं हैं ? उन्होंने डाकुओं के सुधार का काम किया, पर विफल रहे। गन्दे पोस्टरों के ख़िलाफ़ आंदोलन चलाया, लेकिन कामयाबी न मिल सकी।"

मेरी इस तीखी बात पर तीनों सज्जन एक साथ बोल पड़े—

"तो फिर क्या हो ?"

मैंने बड़ी ही गम्भीरता के साथ कहना शुरू किया—

"इसकी बस एक शक्ल है और वह एकमात्र शक्ल यह है कि लोगों की अन्तरात्मा को जागरुक बनाया जाए और उनके मन में यह विचार कूट-कूटकर भर दिया जाए कि वे जो कुछ कर रहे हैं, उनकी पकड़ भले ही इस लोक में न हो सके, भले ही यहाँ के ज़िम्मेदार उनके अपराधों को न पकड़ सकें और उन्हें उसका उचित दण्ड यहाँ न भोगना पड़े, भले ही वे यहाँ सिफ़ारिशों और अपनी वक्तृत्व-शक्ति व धन के बल पर अपने को अपराधों से मुक्त करा लें, पर मृत्यु के बाद उन कर्मों का जो हिसाब-किताब होगा, जो जाँच-पड़ताल होगी, जो पूछताछ होगी उससे बच नहीं सकते। जब तक परलोक में उत्तरदायित्व की यह भावना जन-साधारण में न पैदा होगी, उस समय तक भ्रष्टाचार से छुटकारा पाना कठिन ही नहीं, असम्भव भी है। हाँ, यह विचारधारा उस महान, सर्वशक्तिमान, सर्वनियन्ता तथा विश्व-रचयिता के भय ही से जन्म ले सकती है, जो अच्छे काम करनेवालों को उनका बदला और दुष्टों और बुरे लोगों को उनके दोषों व अपराधों की सज़ा दे सकता है।"

"क्या व्यावहारिक रूप से कभी ऐसा हुआ कि ईश-भय व परलोक-प्रियता ने भ्रष्टाचारों व दुराचारों का अन्त कर दिया हो ?"

"आप अन्त करने की बात कहते हैं, यहाँ इन्हीं आधारों पर देश के देश में क्रान्ति आ गई—ऐसी क्रान्ति जिसे आज तक न इस आसमान ने देखा और न इस ज़मीन ने। तनिक आज से 1400 वर्ष पहले के अरब पर विचार कीजिए। कैसा भ्रष्टाचार फैला हुआ था वहाँ, कितना दुराचार, अत्याचार व अन्याय का राज्य था वहाँ, कितनी अशान्ति व अव्यवस्था थी वहाँ, पर ईश-भय व परलोक-प्रियता ने समाज का रंग-रूप बदल दिया, व्यक्तियों का जीवन बदल दिया और बदल दिया वहाँ की सांस्कृतिक, आर्थिक व राजनीतिक व्यवस्थाओं को।"

"आप सच कहते हैं। यह इस्लाम का चमत्कार ही है।" दूर बैठकर वार्ता में भाग न लेनेवाले एक सज्जन का उद्‌गार था यह।

"हाँ मेरे भाई !" मैंने फिर कहना शुरू किया, "ईश-भय और परलोक-प्रियता को व्यावहारिक रूप देने के लिए और इस विचार को पूरे जीवन पर फैला देने के लिए ईश्वर ने इस संसार में अपने दूतों की एक शृंखला क़ायम कर रखी है जो हर समय और हर युग में आते रहे। अन्त में ईश्वर के अन्तिम दूत हज़रत मुहम्मद (सल्ल०) ने इस व्यवस्था को पूर्णरूप देकर यह सिद्ध कर दिया कि इसके बाद किसी दूसरी जीवन-व्यवस्था की ज़रूरत नहीं।"

"अच्छा !" उक्त सज्जन ने आश्चर्य प्रकट करते हुए कहा।

"हाँ ! अरब में क्रान्ति पैदा करनेवाली यही जीवन-व्यवस्था है जिसने अरब प्रायद्वीप को सुख-शान्ति का घर बनाकर छोड़ा और यह तय है, भले ही आप मानें या न मानें, कि आज भी भ्रष्टाचार ही क्या, मानव-जाति की सारी समस्याओं का यही है एकमात्र हल।"

फिर मैंने तनिक और बल देकर कहा—

"इस युग की एक बड़ी ट्रेजडी यह भी है कि इस्लाम धर्म के चारों ओर ग़लतफ़हमियों की एक मोटी चादर डाल दी गई है और पूरी कोशिश की गई है कि इस्लाम का उज्ज्वल रूप निखरकर सामने आने ही न पाए। मेरा आप से निवेदन है कि आप इन ग़लतफ़हमियों को पहले अपने दिल से निकाल दें, फिर इस्लाम और उसकी व्यवस्था का खुले मन से अध्ययन करें और जिस तरह आप अब तक दूसरी व्यवस्थाओं को व्यवहार की कसौटी पर परखते रहे हैं, इसे भी आज़माकर और परखकर देखें और बताएँ कि क्या इस्लाम और उसकी व्यवस्था आपकी समस्याओं का हल नहीं है ?"

इसके बाद लोग ख़ामोश हो गए और कोई जवाब न दे सके।

न जाने क्यों ? मेरी बातों से सन्तुष्ट हो गए थे या कुछ और सोच रहे थे।

(2)

# इस्लाम ही क्यों?

लोग पूछते हैं—

तुम इस्लाम ही की चर्चा क्यों किया करते हो, उसी के गुणों को क्यों बखान करते हो और उसी की ओर ही दूसरों को क्यों आमंत्रित करते रहते हो?

साथ ही यह भी कहते हैं—

क्या अन्य धर्मों व मतों में या अन्य सिद्धान्तों व व्यवस्थाओं में तुम्हें कोई अच्छी बात नहीं दीख पड़ती? क्यों न इन तमाम अच्छी बातों को एक जगह जमा कर दिया जाए और इन तंग-नज़रियों व संकीर्णताओं से निकलकर कोई 'विशाल संसार' बसा लिया जाए, जिसमें तुम भी सुख से रहो और दूसरे भी चैन की बंसी बजाते रहें। वरन् इससे तो साम्प्रदायिकता को हवा मिलती रहेगी और बस।

कहनेवालों को पूरा अधिकार है कि वे जो चाहें और जैसे चाहें कहें। उन्हें इसका भी पूरा हक़ है कि वे जिस सिद्धान्त, दृष्टिकोण, वाद, मत या धर्म को चाहें अपनाएँ, चाहे छोड़ दें। हम उनके इस अधिकार में हस्तक्षेप करनेवाले होते ही कौन हैं? हाँ, समझने-समझाने के लिए हम इतना पूरे आदर के साथ कहने का साहस करेंगे कि हर सूझ-बूझवाले व्यक्ति का जीवन के बारे में एक दृष्टिकोण होता है। वह सोचने पर मजबूर होता है कि यह जीवन क्या है? इसका संबंध इस सृष्टि से क्या है? फिर यह सृष्टि क्या है? इसका पैदा करनेवाला कोई है भी या नहीं? पैदा करनेवाले से मनुष्य का क्या संबंध है? मनुष्य अपना जीवन कैसे बिताए? अपनी समस्याएँ किन बुनियादों पर हल करे? उसके जीवन का लक्ष्य क्या हो? आदि-आदि। वह इन तमाम सवालों पर विचार करता है और सही या ग़लत जवाब खोज निकालता है। फिर वह इस जवाब पर जम जाता है और इसी के आधार पर वह एक व्यवस्था तैयार करता है—एक जीवन-व्यवस्था। हम भी इन्हीं सवालों पर विचार करते रहे हैं और इस नतीजे पर पहुँचे हैं कि इस्लाम एक पूर्ण जीवन-व्यवस्था है, जिसमें उन तमाम सवालों का जवाब मौजूद है जो मानव-मस्तिष्क में पैदा होते रहे हैं और पैदा हो सकते हैं। इस्लाम की इसी ख़ूबी को देखकर हमने यह नतीजा निकाला है कि इस्लामी जीवन-व्यवस्था ही अपनाने की चीज़ है और इसी को अपनाने में मानव-जाति का कल्याण है। यह मनुष्य का स्वभाव है कि उसे जो भी दृष्टिकोण प्रिय होता है, वह उसे दूसरों तक पहुँचाना चाहता है और फिर उस दृष्टिकोण से दूसरों को

अवगत कराना तो वह अपना फ़र्ज़ ही समझने लगता है, जो उसका खाना-पीना और ओढ़ना-बिछौना बन जाए। ज़ाहिर है, हम भी अपने इसी स्वभाव से विवश हैं और कर्त्तव्य समझते हैं कि 'इस्लाम' की बात को हर तरीक़े से दूसरों तक पहुँचा दें। मानना, न मानना उनका काम है, हमारी अपनी ज़िम्मेदारी ख़त्म हो जाएगी। इसी लिए हम इस्लाम ही की चर्चा करते हैं, उसी के गुणों को बखानते हैं और उसी की ओर दूसरों को आमंत्रित करते हैं।

हम आप से निवेदन करेंगे कि आप 'इस्लाम' को 'सम्प्रदाय', 'धर्म' और 'विशेष जाति का मज़हब' समझकर न पढ़ें, बल्कि उसे एक जीवन-व्यवस्था के रूप में देखने की कोशिश करें। फिर यह समझने की कोशिश करें कि इस्लाम आपकी तमाम उलझनों—आध्यात्मिक, नैतिक, सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक. . . को दूर करने में समर्थ है या नहीं। आख़िर आप जीवन-दिशा तय करने के लिए कम्युनिज़्म, सोशलिज़्म, सैक्युलरिज़्म, गाँधीवाद, नाज़ीवाद आदि 'वादों' व दृष्टिकोणों को पढ़ते और समझते हैं और आपको जिससे तुष्टि होती है, उसे अपना लेते हैं। फिर इस्लाम बेचारे का क्या अपराध है कि उसे एक जीवन-व्यवस्था के रूप में न देखकर 'सम्प्रदाय' और 'धर्म' समझकर उसे पढ़ा और समझा जाए? आख़िर इससे बढ़कर तंगनज़री और संकीर्णता क्या होगी? बल्कि यह रीति तो अन्याय की सीमा को छूनेवाली दीख पड़ती है कि एक सुन्दर, स्वस्थ दृष्टिकोण को बिना जाने ही, कुछ ऐतिहासिक घटनाओं और एक वर्गविशेष के कारनामों को देखते हुए, अस्वस्थ और बेकार समझ लिया जाए।

पूछा जा सकता है कि यही बात तो दूसरे 'धर्म' वाले भी कहते हैं कि उनका धर्म सबसे अच्छा है। अगर ऐसे ही सभी कहने लगें तो यह फ़ैसला बहुत मुश्किल हो जाएगा कि कौन अच्छा और बेहतर है और कौन नहीं। पर यह सवाल जितना ही कठिन दीख पड़ता है, उतना ही इसका उत्तर आसान है। इन तमाम धर्मों (जीवन व्यवस्था के अर्थ में) के सिद्धान्तों व मूलाधारों को इकट्ठा कीजिए और देखिए कि—

(1) किसके सिद्धान्त और किसकी बुनियादी बातें ठोस, सर्वव्यापी, हर वर्ग और जाति के लिए समान, हरेक के अमल करने योग्य और पूरी मानव-जाति के लिए हितकर हैं।

(2) कौन-सी व्यवस्था इतिहास की कसौटी पर इस तरह परखी गई है कि वह जीवन के एक-एक भाग में सही रहनुमाई करने में समर्थ रही है और आज भी जिसकी रहनुमाई सुख-शान्ति की गारन्टी दे सके।

(3) किस 'धर्म' का कौन प्रवर्त्तक था? उसका वैयक्तिक व सामाजिक जीवन कैसा था? कहीं कोई लांछन तो नहीं? चरित्र पर कोई धब्बा तो नहीं?

मामलात में कोई खोट तो नहीं? इसलिए कि शुद्ध दृष्टिकोण को अमली जामा पहनाने के लिए शुद्ध दृष्टि और शुद्ध भावना की बड़ी आवश्यकता होती है।

ये पन्ने विस्तार में जाने की इजाज़त नहीं देते, वरन् हम बताते कि किस तरह इस्लाम ही इन तमाम कसौटियों पर खरा उतरता है और किस तरह इतिहास के पन्नों ने पूरे ध्यान के साथ उसकी एक-एक बात को सुरक्षित कर रखा है, आप परखकर देखें तो।

आप कह सकते हैं कि ऐसी एक कसौटी बनाने की ज़रूरत ही क्या है। एक इसकी, दूसरी उसकी, तीसरी उसकी अच्छी बातें अपना लें, कोई झगड़ा ही नहीं खड़ा होगा। प्रत्यक्ष में बात तो बड़ी भली मालूम होती है, पर भीतर घुसकर समझने की कोशिश कीजिए तो बड़ी फुसफुसी और बेतुकी-सी दीख पड़ती है। आप ख़ुद सोचिए कि एक क़ीमती घड़ी के कुछ पुर्ज़ों को निकालकर उसकी जगह दूसरे बेजोड़ पुर्ज़े लगा देने से क्या घड़ी अपना सही-सही काम पूरा कर सकेगी। ठीक ऐसे ही पूर्ण व्यवस्था की कुछ बुनियादी बातों को निकालकर किसी दूसरी व्यवस्था की कुछ बातों को ठूँसने से कोई बात बन सकेगी? बात समझ में नहीं आती और 'धर्मों' और 'वादों' के बारे में तो इस समय कुछ कहने की ज़रूरत नहीं। हाँ, हम इस्लाम के बारे में पूरे भरोसे के साथ कह सकते हैं कि वह एक ऐसी व्यवस्था है जो पूर्ण है और जिसका एक-एक अंग एक-दूसरे से ऐसा जुड़ा हुआ है जैसे मनुष्य के शरीर का एक-एक अंग कि जिसका कोई भी अंग ऐसा बेकार नहीं जिसे काट फेंका जाए। अंग काटने का मतलब उस देह के साथ खिलवाड़ करने के अलावा और कुछ नहीं हो सकता।

फिर इस पहलू से भी विचार कीजिए कि सत्य बात हमेशा एक ही होती है। हर बात सत्य नहीं हो सकती, जबकि उन बातों में कोई मेल भी न हो। जिस प्रकार सूर्य तो एक ही होगा, लाख दूसरे अपने 'दीपों' को सूर्य कहते फिरें, वैसे ही इन तमाम धर्मों व दृष्टिकोणों में कोई एक ही 'सत्य' होगा, भले ही हरेक अपने को सत्य समझें। अब यह आपका काम है कि सत्य को खोज निकालें। हाँ, इतना ज़रूर निवेदन है कि जब आप सत्य पा लें तो उस पर जम जाएँ और इससे भय न खाएँ कि लोग आपको क्या कहेंगे।

## (3)

# पहले जीवन का लक्ष्य निर्धारित करो

एक दिन मैं अपने आफ़िस में बड़े ही बेमन से एक पुस्तक उलट-पलटकर देख रहा था कि एक प्रोफ़ेसर साहब भीतर आफ़िस में सलाम करते हुए घुस आए। कुछ रस्मी बातों के बाद बातचीत इस्लाम की नैतिक व्यवस्था पर होने लगी।

प्रोफ़ेसर साहब तो पाश्चात्य सभ्यता के रसिया थे, जब मैंने उनसे यह कहा—

"प्रोफ़ेसर साहब! इस्लामी जीवन-व्यवस्था जिन बुनियादों पर खड़ी होती है, उनमें से एक ऐसी नैतिक व्यवस्था...... ।"

अभी मैं अपना वाक्य पूरा भी न करने पाया था कि वह बीच ही में बोल पड़े—

"आप तो इस्लाम के गुण गाते हुए कभी अघाते ही नहीं। हालाँकि हम नित्य अपनी आँखों से देखते हैं कि पश्चिमवासियों ने बिना इस्लाम अपनाए अनोखी प्रगति की है। देखिए न, वहाँ समय की पाबन्दी, वादे का पूरा करना, कठिन परिश्रम की आदत ईश्वर पर बिना ईमान लाए मौजूद है और... और मैं तो देखता हूँ कि इस्लाम के ये करोड़ों अनुयायी, इनमें से किसी एक गुण के भी मालिक नहीं।"

मैं थोड़ी देर तक प्रोफ़ेसर साहब का चेहरा निहारता रहा, फिर बोला—

"श्रीमान्! जहाँ तक इसका प्रश्न है कि मुसलमानों में ऐसे कोई गुण रहे ही नहीं कि जिनको आप गिना सकें, यह सही है। पर सच पूछिए तो यह इस्लाम का नहीं, मुसलमानों का दोष है। जब उन्होंने इस्लामी सिद्धान्तों पर चलना छोड़ दिया या कुछ अंशों को अपनाया और कुछ को त्याग दिया, तो उन परिणामों की आशा कैसे की जा सकती है जो इस्लाम की देन कहे जा सकते हैं।"

फिर मैंने क्रम जारी रखते हुए कहा—

"प्रोफ़ेसर साहब! इतना विश्वास कीजिए कि ये जो प्रकट गुण आप मुसलमानों में न देखकर पश्चिमवासियों में देखते हैं, इसका सीधा सम्बन्ध वास्तव में उस लक्ष्य से है जो किसी व्यक्ति या जाति का ध्येय बन जाता है। यहाँ इससे बहस नहीं कि यह कैसा है, अच्छा या बुरा। अगर ध्येय सुन्दर है तो इन गुणों का रुख़ किसी और तरफ़ होगा और अगर बुरा है तो इसका रुख़ निश्चय ही उलट जाएगा।"

"यहाँ मैं इतना स्पष्ट कर देना चाहता हूँ कि एक व्यक्ति या जाति अपने लक्ष्य की प्राप्ति में जितना ही सरगर्म होगी, उसमें ये गुण उतने ही स्पष्ट हो जाएँगे। क्या आपने डाकुओं के गिरोहों के बारे में कभी सोचा है? उनमें भी अपनी टोली की हद तक कितना बड़ा अनुशासन, समय व वचन की पाबन्दी, एक-दूसरे पर भरोसा आदि होता है। लेकिन उनके इस अनुशासन को सुशील व सभ्य लोग फूटी आँखों भी पसन्द नहीं कर सकते। ठीक इसी प्रकार हमारे निकट इन प्रकट गुणों का कुछ उतना महत्व नहीं है, हम तो पूरा महत्व किसी व्यक्ति या जाति के उद्देश्य व लक्ष्य को देने को तैयार हैं और—बस।"

"पश्चिमवासियों में आप जो ये गुण देखते हैं, ये वास्तव में उनके इस ध्येय का पता देते हैं कि उनकी साम्राज्यवादी चालें सफल हों। उनकी यह सतर्कता, उनकी यह तेज़ी, उनकी यह प्रगति किसी सुन्दर ध्येय के लिए नहीं, बल्कि एक ऐसे ध्येय के लिए है जो हमारी, आपकी, बल्कि विश्व की एक बड़ी संख्या की दृष्टि में अप्रिय है। फिर ऐसी स्थिति में उनके गुणों को, जिनसे स्वार्थपरायणता, शोषण आदि की गन्ध आती है, कोई महत्व कभी भी दिया ही नहीं जा सकता।"

"मैं आपसे फिर कहूँगा कि आप अपने जीवन का सुन्दर से सुन्दर व उत्तम से उत्तम लक्ष्य निर्धारित कीजिए और फिर लक्ष्य के पीछे दौड़ पड़िए, आप ख़ुद देखेंगे कि आपने समय की पाबन्दी शुरू कर दी है, आपने अपने वादे को पूरा करना, अपने सहयोगियों से हमदर्दी जताना आदि शुरू कर दिया है। अगर आप ऐसा करेंगे तो आप में ऐसे गुण जन्म लेंगे और अगर पूरी जाति ऐसा करे तो वह इन गुणों की पोषक बन जाएगी।"

"मेरे नज़दीक 'चरित्र' चरित्र के लिए और 'नैतिकता' नैतिकता के लिए कोई चीज़ नहीं है, बल्कि चरित्र व आचरण तो जीवन-लक्ष्य की प्राप्ति के लिए ही होते हैं। अब यह दूसरी बात है कि आपका मस्तिष्क किस लक्ष्य को निर्धारित करता है।"

मेरी बातों से प्रोफ़ेसर साहब सहमत हुए या नहीं यह तो मालूम न हो सका, पर इतना अवश्य है कि इसके बाद से फिर कभी उन्होंने इस विषय पर वार्ता नहीं की।

(4)

# क्या इस्लाम तलवार के बल पर फैला?

मैं जब किसी से यह सुनता हूँ कि इस्लाम के फैलने का प्रमुख कारण तलवार है या इस्लाम शक्ति के बल पर फैला है, तो मेरे आश्चर्य की कोई सीमा नहीं रहती। कैसी विचित्र है यह बात! शान्ति का सन्देश देनेवाले धर्म इस्लाम पर यह आघात! कितने भोले हैं ऐसी आपत्ति करनेवाले। काश! वे इस्लाम के शुद्ध रूप को देख लेते, फिर अन्दाज़ा करते कि कितना शांतिप्रिय है यह धर्म, हरेक का हितैषी और हरेक का शुभचिंतक!

पिछली शताब्दियों में यूरोप से इस्लाम के प्रति घृणा एवं द्वेष फैलाने की ख़ातिर यह आवाज़ बार-बार उठाई गई कि इस्लाम की उन्नति और उसके प्रसार का मुख्य कारण तलवार है, जिसके बल पर मुसलमानों ने आधी सदी के भीतर-भीतर संसार के एक बड़े भाग पर विजय प्राप्त कर ली। फिर यूरोपवालों ने इसका इतना प्रोपेगण्डा किया और इसपर अपनी पूरी ताक़त इस तरह झोंक दी कि सचमुच ही इस्लाम के प्रति फैलाई गई यह भ्रांत धारणा सही मालूम होने लगीं। भारत इससे प्रभावित हुए बिना न रहा और यहाँ की एक बड़ी संख्या ने इस्लाम के प्रति उसी अन्दाज़ से विचार करना शुरू कर दिया। पर सच तो यह है कि यह दुष्प्रचार भर है और....... बस।

इसमें सन्देह नहीं कि इस्लामी इतिहास की अधिकांश पुस्तकों के पढ़ने से ऐसा आभास होता है कि वह ' लड़ाइयों का इतिहास ' है और सातवीं सदी ईसवी में अरब में इस्लाम के हाथों जो क्रान्ति हुई थी वह लड़ाई और ख़ून-ख़राबे ही के नतीजे में हुई थी, पर यह भ्रम मात्र है, इसकी कोई वास्तविकता नहीं।

फिर अगर लड़ाईवाली बात मान भी ली जाए अर्थात् यह कि इस्लामी इतिहास में लड़ाइयों का भाग बहुत है, जिससे सिद्ध होता है कि वह तलवार के बल पर फैला, तो भी इन लड़ाइयों पर तीन पहलुओं से विचार करने की ज़रूरत है।

एक यह कि इन लड़ाइयों की हैसियत क्या है और क्या सच में ये अधिक हैं?

दूसरे यह कि आक्रामक क्या मुसलमान ही रहे और क्या वास्तव में वे हिंसा पर उतर आए थे?

तीसरे यह कि इन लड़ाइयों से कितनी और किस प्रकार की क्षति मानवता को भुगतनी पड़ी?

हम नीचे इन्हीं पहलुओं पर विचार करेंगे।

हज़रत मुहम्मद (सल्ल०) के नेतृत्व में इस्लामी आन्दोलन की मुद्दत कुल 23 साल थी। इसी में आन्दोलन की नींव भी पड़ती है और इसी में इस्लामी राज्य की स्थापना भी होती है और यही वह छोटी-सी मुद्दत है जिसमें पूर्ण इस्लामी व्यवस्था स्थापित होती है। इस मुद्दत के 13 वर्ष तो मक्के में अति करुण अवस्था में बीत जाते हैं जहाँ मुसलमानों ही पर ज़ुल्म के पहाड़ तोड़े गए। उन्हें जलती रेत पर लिटाया गया, दहकते अंगारों से दबाया गया, तमतमाती धूप में घसीटा गया, मारते-मारते बेदम कर दिया गया, भूखा-प्यासा रखा गया, उनका सोशल बायकाट किया गया, उन्हें डराया गया, धमकाया गया, यहाँ तक कि उन्हें मक्के की सीमाओं में नज़रबन्द भी कर दिया गया। ऐसी स्थिति में वे कमज़ोर व निहत्थे मुसलमान भला शत्रुओं के मुक़ाबले में क्या आते, शत्रुओं से लड़ाई किस बल पर लड़ते। फिर इसके बाद मदीने के 10 वर्ष आते हैं। इन्हीं दस वर्षों में, मुख्य रूप से 2 हिजरी से 8 हिजरी तक की मुद्दत में कुछ लड़ाइयाँ होती हैं, ख़ून बहता है और कुछ जानें जाती हैं। सोचने की बात है कि 23 साल की इस मुद्दत में केवल 6 वर्ष ऐसे हैं, जिनमें लड़ाइयाँ होती हैं और ख़ून बहता है, तो क्या केवल इसी के आधार पर इस्लामी इतिहास को लड़ाइयों का इतिहास कहना सही है, जबकि इसके नतीजे में एक प्रबल क्रान्ति जन्म लेती है—सामाजिक क्रान्ति, आर्थिक क्रान्ति, राजनीतिक और आध्यात्मिक क्रान्ति—यहाँ तक कि दानव मानव हो जाता है, बद्दू उच्चकोटि के शासक बन ज़ाते हैं, कारवानों को लूटनेवाले अरब कारवानों के रक्षक बन जाते हैं, यतीमों का मान होता है, औरतों के अधिकार बढ़ते हैं, लोकतन्त्र की नींव पड़ती है, आर्थिक समता जन्म लेती है और सबसे बड़ी बात यह कि सदा के जुआरी-शराबी उच्चकोटि के सत्यवादी, न्यायी और सदाचारी बन जाते हैं। इनमें ऐसा भाईचारा जन्म लेता है कि मदीना के अनसारी मक्के से हिजरत करके आनेवाले मुसलमानों को अपनी जायदाद और मकान में भागीदार बना लेते हैं। इनमें एक-दूसरे के प्रति ऐसा प्रेम उभरता है कि लड़ाई के मैदान में प्यासे होने और पानी के मिल जाने पर भी एक घायल व्यक्ति पानी इसलिए नहीं पीता है कि उसने दूसरे व्यक्ति की प्यास से कराहने की आवाज़ सुन ली थी और इसी तरह दूसरे ने भी पानी इसलिए पीना उचित न समझा कि उसके मन ने तीसरे कराहते और तड़पते व्यक्ति को पहले पानी पिलाना उचित समझा और इसी चक्कर में तीनों की जान चली गई। इनमें एक ऐसा समाज पनपता है कि शराबबन्दी का एलान होता है और मुँह से लगे हुए प्याले अलग कर दिए जाते हैं और क्षण भर में मदीना की गलियों में शराब के नाले बह निकलते हैं। इनमें सेवा की

भावना इतना उफान करती है कि गवर्नरी के कर्तव्य पूरे करने के लिए कम से कम मुंआवज़ा स्वीकार कर लिया जाता है। इनमें ईमानदारी इतनी पैदा होती है कि युद्ध में प्राप्त माल की हर सैनिक एक-एक सूई भी सेनापति को सहेजकर देता है और बड़े से बड़ा ख़ज़ाना भी उनके लिए ईश-प्रसन्नता के आगे तुच्छ दीख पड़ने लगता है। क्या इतनी बड़ी क्रान्ति की वेदी पर कुछ जानें अगर बलि दे दी गईं तो उसी के आधार पर उसे 'ख़ूनी इन्क़िलाब' और 'हिंसात्मक क्रान्ति' की उपाधि दी जा सकती है?

आज भी सैनिक क्रान्तियाँ होती हैं और जिनकी हैसियत राजनीतिक क्रान्ति से अधिक नहीं होती, पर विरोधियों को फाँसियों पर लटकना पड़ता है, जेल की कोठरियों में ठूँस दिया जाता है, क़त्लेआम भी हो जाता है, पर ऐसी महाक्रान्ति, थोड़ी-सी हत्याओं और गिनी-चुनी लड़ाइयों के बाद भी हो जाए तो इस पर आपत्ति क्यों की जाए, बात समझ में नहीं आती।

फिर इस पहलू से भी विचार कीजिए कि मदीने में पहुँचने के बाद तीन ही लड़ाइयाँ ऐसी हुई हैं जिन्हें लड़ाई का नाम दिया जा सकता है और वे भी इस अन्दाज़ से कि शत्रु मदीना की ओर चढ़ दौड़े। ये तीनों लड़ाइयाँ इस तरह हैं :-

(1) बद्र की लड़ाई (2) उहुद की लड़ाई (3) खाई की लड़ाई।

पहली दो लड़ाइयों में मुसलमानों ने शत्रुओं का मदीने से बाहर निकलकर मुक़ाबला किया और तीसरी लड़ाई इस हालत में लड़ी गई कि मुसलमानों ने अपने बचाव के लिए नगर के चारों ओर एक खाई खोद ली और शत्रुओं ने मदीना को चारों ओर से घेर लिया। इन तीनों लड़ाइयों में शत्रु मुसलमानों पर हमलावर हुए थे।

इसके अलावा जो लड़ाइयाँ हुई थीं, उनकी हैसियत या तो सीमावर्ती झड़पों की है या विद्रोहियों को सज़ा देना है या पुलिस ऐक्शन है। पर इन तमाम लड़ाइयों का आप अध्ययन कर जाइए, आपको न तो मुसलमानों की कोई आक्रामक नीति मिलेगी और न ही हिंसात्मक कार्रवाई की गई होगी[1], बल्कि आप देखेंगे कि मुसलमानों ने लड़ाइयों को कुछ ऐसा मोड़ दिया है कि जिससे ख़ून-ख़राबा न हो और हो तो कम हो। योद्धाओं और अस्त्रों-शास्त्रों का संहार अगर हो तो हो, पर बूढ़ों-बच्चों, स्त्रियों, जायदादों और दूसरे औद्योगिक केन्द्रों को क्षति न पहुँचाने का भरसक प्रयत्न किया जाए।

आप सोचिए कि जब किसी संस्था के जीवन-मरण का प्रश्न आ जाए, जब

---

1. और अगर कहीं आक्रामक नीति की गन्ध मिलेगी भी तो वह भी जन-साधारण के हित व स्वार्थ में, शत्रुओं की दोषपूर्ण नीति का दमन करने के लिए।

किसी नए राज्य को स्थापित होते ही उसके हड़प लिए जाने का ख़तरा पैदा हो जाए, जब शत्रुओं ने षड्यन्त्रों का जाल बिछा रखा हो, जब राज्य के भीतर ही पंचमाँगियों की गतिविधियाँ ज़ोर पकड़ने लग जाएँ, जब पड़ोसी राज्यों व क़बीले संधि भंग करके आक्रमणकारियों के साथ हो गए हों और शत्रु सिर पर सवार हो गया हो तो क्या यह बुद्धि का तक़ाज़ा नहीं कि इनका मुक़ाबला किया जाए और हर ऐसे तत्व की जड़ काट दी जाए जो शान्ति भंग कर रहा हो, देश व राष्ट्र की उन्नति में बाधक हो रहा हो। अगर मुसलमानों ने इन कटु परिस्थितियों में कुछ लड़ाइयाँ लड़ भी लीं तो उन पर आपत्ति क्यों? आख़िर उन्होंने क़ौन-सा नैतिक व राजनीतिक अपराध किया है कि उन पर आरोप लगाया जाए और उन्हें बर्बर सिद्ध करने की कोशिश की जाए? इनसाफ़ को आवाज़ दो इनसाफ़ कहाँ है?

फिर यह भी तो देखिए कि सत्य के लिए लड़ी गई इन लड़ाइयों में कुछ सौ से अधिक जाने नहीं गईं, जिनमें मुसलमान और ग़ैर मुस्लिम दोनों सम्मिलित हैं। ऐसे ही कुछ सौ घायल हुए। इसी तरह हज़ार दो हज़ार क़ैद किए गए होंगे—पर इन लड़ाइयों में न आबादियाँ जलाई गईं, न क़त्लेआम किया गया, न खेतियाँ नष्ट की गईं, न लड़नेवालों के अलावा किसी और को कोई कष्ट पहुँचाया गया; बल्कि वैमनस्य के इस वातावरण में भी मुसलमानों ने शत्रुओं के शवों को दफ़न किया है, उनका आदर किया है, उनके क़ैदियों को मान-सम्मान के साथ रखा है। ख़ुद भूखे रहे हैं, पर उनको खिलाया है—क्या है कोई देश, कोई राष्ट्र और जाति जो लड़ाइयों में इस आदर्श चरित्र को प्रस्तुत कर सकी हो?

इसके विपरीत तनिक सन् 1945 के उस क्षण को ही केवल याद कर लीजिए, जबकि जापान के हिरोशिमा पर 20,000 टन टी. एन. टी. के अणुबम गिरने से 78,000 व्यक्ति मरे और 37,000 घायल हुए और उसका प्रभाव यह पड़ा कि नस्ल की नस्ल अपंग जन्म ले रही है। क्या आज के सभ्य संसार की 'सभ्यता' यही है? फिर यह तो एक उदाहरण है। संसार का इतिहास उलट जाइए, एक से एक लड़ाइयाँ हुईं, क़त्लेआम हुए, ख़ून-ख़राबे हुए और मानवता सिहर-सिहर उठी। इन लड़ाइयों पर कोई बोलनेवाला नहीं, पर इस्लाम जैसी महाक्रान्ति के पैदा करने में अगर कुछ सौ जानें, वह भी शत्रुओं की आक्रामक द्रोहपूर्ण नीति के कारण, चली गईं तो उसकी निन्दा की जाती है, क्यों? आख़िर यह अन्याय नहीं तो और क्या है?

फिर इस्लाम के प्रवर्तक हज़रत मुहम्मद (सल्ल०) के चरित्र व आचरण पर भी तो दृष्टि डालिए। कितनी करुणा व दया भरी है आपके मन में, कितनी शान्तिप्रिय है आपकी नीति! कैसा प्यार था आपके हृदय में मानवता के लिए!

आप मानव को मानव बनाना चाहते थे, मानवता को जगाना चाहते थे। अगर ऐसा न होता तो निश्चय ही आप उस आपात्कालीन स्थिति में, जबकि हर क्षण आक्रमण का भय रहता, छोटी-छोटी और सीमावर्ती झड़पें चलती रहतीं, अरब के अनेकों क़बीले मदीने पर धावा बोलने के लिए कभी इधर से सिर उठाते तो कभी उधर से, रातों को फ़ौजी पहरा लगाना पड़ता, फिर षड्यन्त्रों का एक जाल— यहूदियों के षड्यन्त्र, शत्रुओं के शड्यन्त्र, पंचमाँगियों के षड्यन्त्र—एक विचित्र स्थिति थी, पर इन सबके होते हुए भी आपने मानवता का साथ दिया, चरित्र व आचरण का उच्च आदर्श पेश किया। अपने तो अपने ही थे, षड्यन्त्रों के पोषक अब्दुल्लाह इब्न उबई तक से मानवता का व्यवहार किया, मक्कावालों से बड़ा शत्रु आपका कौन हो सकता था, पर सूखा पड़ने पर आपने उनको अन्न और खाद्य पदार्थ भेजे और ग़रीबों में बँटवाने के लिए 500 अशर्फ़ियाँ भिजवाईं। लड़ाई में पकड़े गए क़ैदियों से प्रेम-व्यवहार न कभी किया गया है और न कोई करता है, पर आपके मानवता-प्रेम का अन्दाज़ा इससे तो कीजिए कि बद्र में पकड़े गए क़ैदियों की कराह सुनकर आपकी नींद उड़ गई और आप उस समय तक चैन से नहीं सो सके, जब तक कि उनके बन्धन ढीले करके उन्हें आराम न पहुँचा दिया गया, आप करुणा-सागर थे, इसका अनुमान आप इससे कीजिए कि बनू हवाज़िन क़बीले के 6,000 क़ैदी वापस छोड़ दिए जाने की अपील करते हैं और आप उन्हें तुरन्त छोड़ देते हैं, मानवता के इस बड़े उपकारी की क्षमा-नीति को इस घटना में देखिए कि आप मक्का में पूर्ण विजेता के रूप में दाख़िल होते हैं और उसके ख़िलाफ़ 20 वर्ष तक लड़ते रहनेवाले उनके वश में पूरी तरह आ चुके होते हैं, कोई दूसरा होता तो हर एक से एक-एक का बदला लेता, क़त्लेआम का ऑर्डर करा देता, ख़ून की नदियाँ बह गई होतीं और अगर यह सब कुछ होता तो इतिहास के पन्ने इससे ख़ाली भी न थे, कोई नई बात न होती, पर आप अपने इन कट्टर से कट्टर शत्रुओं को क्षमा कर देते हैं और फ़रमाते हैं—

"आज तुम्हारी कोई पकड़ नहीं, जाओ, तुम सभी को क्षमा किया जाता है।"

आपकी करुणा, दया और आपके उपकारों की घटनाओं से इस्लामी इतिहास के पन्ने भरे पड़े हैं। आप इन्हें देखकर अन्दाज़ा लगा सकते हैं कि क्या आप जैसा व्यक्ति भी हिंसा और आक्रमक कार्रवाइयों का भागी हो सकता है? स्पष्ट है इसका उत्तर निषेध ही में मिलेगा तो फिर इस्लाम पर यह आरोप क्यों कि 'वह तलवार के बल पर फैला।' इस्लाम जैसे शान्तिप्रिय धर्म का जोड़ हिंसा और आक्रमण से लगा दिया जाए, यह अन्याय है, अत्याचार है। हमें ऐसे भ्रम का ग्रास नहीं बनना चाहिए।

हो सकता है बाद में मुसलमानों ने अन्याय व अत्याचार की रीति कहीं अपनाई हो और विरोधी यह समझ रहे हों कि ऐसा इस्लामी भावना के अनुसार ही हुआ होगा, तो यह भी एक भ्रम है। अगर ऐसा हुआ हो तो यह इस्लाम का दोष नहीं, बल्कि मुसलमानों का दोष है। उनकी विस्तार प्रियता तथा स्वार्थ परायणता का दोष है, उनकी भावनाओं और उनके निजी विचारों का दोष है। इस्लाम तो अन्याय व अत्याचार का नहीं, बल्कि न्याय व सत्य-प्रियता का धर्म है, इसमें तनिक भी सन्देह नहीं।

(5)

# फिर वही झगड़े की बात

पिछले दिनों एक बेतकल्लुफ़ ग़ैर मुस्लिम दोस्त से मुलाक़ात हो गई। बड़ी देर तक शिकवे-शिकायतों का दौर चलता रहा—आप यह नहीं करते, आप वह नहीं करते, आपने ऐसा नहीं किया, आपने वैसा नहीं किया, आदि। फिर ज्ञान-विज्ञान की बातें होने लगीं। घूम-घूमाकर न जाने कैसे हमारी बातें इस्लाम के गिर्द चक्कर काटने लगीं और एक उर्दू कवि के अनुसार :–

जिक्र जब छिड़ गया क़ियामत का।
बात पहुँची तेरी जवानी तक॥

वाली बात हो गई। उन्होंने छूटते ही कहा—

"फिर वही झगड़े की बात ? क्या आदमी हैं आप भी !"

"ये झगड़े की बातें नहीं, ये समझने की बातें हैं, श्रीमान्। जीवन की इतनी अहम समस्या, क्या ये सोचने की बातें नहीं ?"

मैं उनका मुँह ताकने लगा और पढ़ने लगा उनके चेहरे पर उभरती-मिटती रेखाओं को।

"माना इस्लाम एक अच्छा धर्म है", उन्होंने बड़ी ही गम्भीरता से धीरे-धीरे कहना शुरू किया, "पर और धर्मों व मतों के माननेवालों का भी तो यही दावा है।"

इतना कहकर उन्होंने मुझे कुछ इस अन्दाज़ से देखा जैसे कोई बड़ी बाज़ी मार ली हो और मुझे बड़ा खिसयाना पड़ा हो। पर मुझे तो अपनी असल बात कहनी ही थी, मैंने कहना शुरू क़िया—

"सही है कि इस क़िस्म के दावे लोगों ने किए हैं और अब भी कर रहे हैं, लेकिन केवल दावे ही असल चीज़ नहीं होते, जब तक कि उनके पीछे दलीलें न हों।"

"अब यही समझिए कि", मैंने कहना शुरू किया, "आप, हम या कोई भी जब यह कहता है कि हमारे सिद्धान्त व दृष्टिकोण ही 'सत्य' हैं तो उसे बताना चाहिए कि ऐसा क्यों कहता है ? क्या बुद्धि की यही माँग है ? मानव-स्वभाव के प्रतिकूल तो नहीं है ? इतिहास की कसौटी पर सही उतरता है ? आदि।"

"हाँ ठीक तो है, पर इतने विस्तार में बताने और समझने की कहाँ किसे फ़ुर्सत है।" उन्होंने कुछ बेमन से उत्तर दिया।

"पर सोचने की बात है कि जीवन की इतनी अहम समस्या पर विचारने के

लिए भी हम समय न निकाल सकें तो फिर कैसे काम चलेगा?" मैंने बात को आगे बढ़ाते हुए कहा, "एक सीधा तरीक़ा यह है कि आप सत्य के दावेदार हर धर्म व मत के प्रवर्तकों के जीवन-चरित्र पर एक नज़र डाल जाइए, उनके निजी जीवन और वार्ताओं का अध्ययन कीजिए, उनके आचार-विचार पर गूढ़ता से विचार कीजिए और देखिए कहीं कोई खोट, कहीं कोई टेढ़, कहीं कोई त्रुटि, आदर्श में कहीं कोई कमी तो नहीं है? जिसके बारे में आपको यक़ीन हो जाए कि वह इन कसौटियों पर पूरा उतरता है और—

* उसके जीवन पर कोई लांछन नहीं है,
* वह अपनों और परायों की नज़र में पवित्र व शुद्ध रहा है,
* उसने न कोई अत्याचार किया है, न अन्याय किया है, न किसी का हक़ छीना है, बल्कि उसने जो विचार व सिद्धान्त दूसरों के सामने रखे हैं, उसमें निष्ठा है, और
* मानव-जाति के कल्याण के अलावा और कोई स्वार्थ नहीं है,

तो ऐसे व्यक्ति पर पूरा भरोसा व विश्वास करके उसकी बात मानते चले जाइए। हमें पूरी आशा है कि आप 'सत्य' को पाने में सफल हो जाएँगे, पर शर्त यही है कि ऐसे व्यक्तित्व की खोज में किसी तरह भी पक्षपात से काम न लिया जाए और न ही किसी संकीर्णता को आड़े आने दिया जाए।

"जब आप इस ढंग से परखना शुरू करेंगे तो आप ख़ुद महसूस करेंगे कि जो व्यक्ति अपने मामलों में भी सत्य व न्याय पर जमा रहा, वह मानव-जाति के पथ-प्रदर्शन के मामले में झूठ और अन्याय से काम नहीं ले सकता, जिस व्यक्ति का जीवन सदा ही शुद्ध व पवित्र रहा वह मानव-जाति के हित व कल्याण की राह छोड़कर छल-कपट और धोखा-धड़ी की बात नहीं कर सकता।"

मैंने अपनी बात आगे बढ़ाते हुए कहा—

"मुझे इस समय पैग़म्बरे इस्लाम हज़रत मुहम्मद (सल्ल०) की पैग़म्बरी को जांचने की रोम के विद्वान सम्राट क़ैसर हिरक़्ल की वह कसौटी याद आ रही है जो खरी भी थी और न्यायपूर्ण भी। उसने उस वक़्त के इस्लाम के कट्टर शत्रु अबू सुफ़ियान से पूछा –

"पैग़म्बरी का दावा करनेवाले का वंश कैसा है?"

"उनका सम्बन्ध उच्च व प्रतिष्ठित वंश से है।" अबू सुफ़ियान ने उत्तर दिया।

"इस वंश में कभी किसी और ने भी पैग़म्बरी का दावा किया था?"

"नहीं।"

"क्या इस वंश में कभी कोई राजा हुआ है?"

"कभी नहीं।"

"जिन लोगों ने यह धर्म (इस्लाम) स्वीकार किया है, वे ग़रीब हैं या अमीर?"

"ग़रीब हैं।"

"उनके माननेवाले बढ़ रहे हैं या घट रहे हैं?"

"बराबर बढ़ते जा रहे हैं?"

"क्या तुम लोगों ने कभी उसे झूठ बोलते पाया है?"

"कभी नहीं।"

"क्या वह अपने वादे और दिए गए वचन भंग भी करता है?"

"अभी तक उसने ऐसी कोई बात नहीं की। अब एक नया समझौता (हुदैबिया का समझौता) हुआ है, इसमें देखना है कि वह अपने वचन पर पूरा उतरता है या उसे भंग कर देता है।"

"क्या तुमने कभी उससे लड़ाई लड़ी है?"

"हाँ, लड़ी है।"

"लड़ाई का नतीजा क्या निकला?"

"कभी हम जीते और कभी वह विजयी रहा।"

"वह क्या सिखाता है?"

"वह कहता है, केवल एक अल्लाह की भक्ति करो, किसी दूसरे को किसी तरह भी उसका साझी न बनाओ, चरित्रवान बनो, सच बोलो, आपस में एक-दूसरे के साथ दया व सौहार्द्र का व्यवहार करो।"

इस पूछताछ के बाद उसने कहा—

"पैग़म्बर हमेशा अच्छे वंश ही में पैदा होते हैं। अगर किसी दूसरे ने उसके वंश में नबी होने का दावा किया होता तो हो सकता था कि उसका दावा भी वंश का प्रभाव समझा जाता और अगर उसके वंश में कोई राजा हुआ होता तो यह समझा जा सकता था कि शायद राजा बनने के लोभ में ऐसा कर रहा हो और जब यह तजुर्बा हो चुका है कि वह किसी आदमी के बारे में कभी झूठ नहीं बोला, तो यह कैसे कहा जा सकता है कि उसने ईश्वर के मामले में इतना बड़ा झूठ गढ़ लिया हो कि उसने (अल्लाह ने) मुझे अपना दूत बनाकर भेजा है और यह भी सच है कि पैग़म्बर कभी किसी से छल-कपट नहीं करते। फिर तुम यह भी कहते हो कि नमाज़ पढ़ने, चरित्रवान बनने और संयम अपनाने का आदेश देता है। अगर यह सब कुछ सच है तो मुझे यक़ीन है कि किसी न किसी दिन उसका क़ब्ज़ा मेरे राज्य पर भी हो जाएगा! मुझे यह तो मालूम था कि पैग़म्बर आनेवाला है, पर यह नहीं जानता था कि वह अरब में पैदा होगा।

मैं अगर वहाँ जा सकता तो स्वयं उसके पाँव पखारता।"

"भाई अगर ऐसी ही किसी कसौटी पर महान् व्यक्तियों और धर्म के प्रवर्तकों को परखना है तो एक कठिनाई यह है कि इनमें से अधिकतर व्यक्ति इतिहास के अंधकारों में गुम होकर रह गए हैं और उनके जीवन के साथ ऐसी-ऐसी मनगढ़त कहानियाँ जोड़ दी गई हैं कि खरे-खोटे को परखना भी एक समस्या है।" दोस्त का उद्‌गार था यह।

"यह भी ख़ूब रही!" मेरे मुँह से झट निकला, "जिसका इतिहास ही सुरक्षित न हो, या जिसके गडमड इतिहास से किसी सही नतीजे पर पहुँचा न जा सके, उसके बारे में भी यह दावा हो कि वह इस 'बिगड़ी हालत' में भी 'सत्य' है, भला आप ही सोचिए कि इसमें कहाँ तक सत्यता है? और इसके ख़िलाफ़ पैग़म्बरे इस्लाम हज़रत मुहम्मद (सल्ल०) के जीवन की एक-एक बात को इतिहास ने पूरी तरह सुरक्षित कर लिया है, जो खोटा-खरा परखने के लिए काफ़ी है। आप......"

मेरा वाक्य पूरा होने से पहले ही मेरे दोस्त हँसने लगे।

फिर भी मैं अपनी बात कहे बिना न रहा—

"सत्य बात तो एक ही होगी, चाहे आप जिसे मानें, यह तो आपके खोजने और परखने पर निर्भर है।"

यह कहकर मैं चला आया। मालूम नहीं फिर मेरी बातों पर उनकी क्या प्रतिक्रिया रही?

(6)

# जीव-हत्या

पिछले दिनों एक जगह जाना हुआ तो एक सज्जन से भेंट हो गई, छूटते ही उनका जो प्रश्न था, वह यह था—

"इस्लाम की हर बात पसन्द, सिद्धान्त बेहतर, पर उसका जीव-हत्या को सही समझना और क़ुरबानी की रस्म को जारी रखना किसी तरह भी उचित नहीं जान पड़ता, बल्कि इससे तो कुछ घिन-सी ही पैदा होती है।"

मुझे कुछ जल्दी थी, प्रश्न टेढ़ा था, भिन्न-भिन्न गुत्थियों में उलझा हुआ, उस समय उन्हें सन्तुष्ट न कर सका। अब सोचता हूँ उन्हें फिर से सन्तुष्ट करने की कोशिश करूँ, शायद कि उन्हें सन्तोष हो जाए, जिनके मन में इस्लाम का यह तथाकथित 'घिनावना पहलू' बराबर खटकता रहता है।

सबसे पहले कुछ बुनियादी बातों को समझ लीजिए—

(1) इस्लाम ने मनुष्य को इस सृष्टि में जो हैसियत दी है वह यह है कि वह सृष्टि के रचयिता की सर्वश्रेष्ठ रचना है और मनुष्य ही वह जीव है जिसके लिए इस पूरी सृष्टि की रचना की गई। ये नदियाँ, ये पहाड़, ये सूरज-चाँद-सितारे, ये हवा-पानी, ये पेड़-पौधे, ये जीव-जन्तु सभी उसके लिए पैदा किए गए हैं। मनुष्य इन चीज़ों का उपयोग करता है और इनसे पूरी तरह फ़ायदा उठाते हुए ही अपना जीवन बिताता है।

(2) जब ये तमाम चीज़ें उसी के लिए हैं और उन पर वह पूरा-पूरा अधिकार रखता है तो जैसे वह ज़िंदा रहने के लिए हवा और पानी का इस्तेमाल करता है, भोजन के तौर पर दूसरी साग सब्ज़ी आदि का प्रयोग करता है, आने-जाने और चलने-फिरने में जानवरों से काम लेता है, ठीक वैसे ही भोजन के तौर पर खाने और पौष्टिक पदार्थ का सेवन करने का उसे अधिकार होना चाहिए। इसी पर मानव-स्वभाव व इतिहास गवाह है और यही अक़्ल भी कहती है।

(3) देश, वातावरण, भौगोलिक परिस्थिति आदि भी कभी-कभी इस पर बल देती है कि जीव-हत्या को सही समझा जाए और मांस खाने की इजाज़त दी जाए। शिकारी क़बीले शिकार करके ही पेट भर सकते हैं, अरबवालों के लिए ऊँट का मांस खाना ज़रूरी है, साइबेरिया निवासी जानवर और मछली का इस्तेमाल किए बिना ज़िन्दा नहीं रह सकते, आदि। इन्हीं परिस्थितियों की मजबूरी है कि आज संसार की आबादी का बहुत बड़ा भाग मांसाहारी है और मांस का खाना सही समझता है।

इस्लाम के सामने ये तमाम बातें थीं। इसी लिए उसने जीव-हत्या की इजाज़त दे दी है, लेकिन सिर्फ मन-बहलाव के लिए नहीं, बल्कि सचमुच की ज़रूरत पड़ने पर। उस पर भी उसने कई शर्तें और लगा दी हैं, ताकि 'हत्या—हत्या के लिए' न हो सके। जैसे :—

(क) मुर्दार का गोश्त न खाया जाए। गला घुटकर, चोट खाकर, ऊँचाई से गिरकर या टक्कर खाकर मरनेवाले जानवरों को न खाया जाए, जिसे किसी हिंसक पशु ने फाड़ खाया हो उसे भी न खाया जाए। तमाम हलाल जानवरों को खाने का तरीक़ा केवल यह है कि उन्हें ज़ब्ह किया जाए। 'ज़ब्ह' इस्लाम की एक परिभाषा है। उससे तात्पर्य हलक़ (गर्दन) का उतना हिस्सा काट देना है, जिससे शरीर का ख़ून निचुड़कर अच्छी तरह निकल जाए। झटका करने या गला घोंटने या किसी उपाय से जानवर को मारने का नुक़्सान यह होता है कि ख़ून का अधिक भाग शरीर के भीतर ही रुककर रह जाता है और वह जगह-जगह जमकर मांस के साथ चिमट जाता है। ज़ाहिर है कि ख़ून का मांस के साथ लगे रहने पर ऐसा मांस मानव-स्वभाव के लिए कैसे रुचिकर हो सकता है, बात समझ में नहीं आती।

(ख) दाँतों और नोकदार पंजोंवाले जानवरों को जो चीर-फाड़कर दूसरे जीवों को खाते हैं, और

(ग) गन्दे जानवर, जो गन्दगी खाते हैं या जिनका स्वभाव ही गन्दा है, उन्हें भी न खाया जाए।

यहाँ यह बात समझ लेनी चाहिए कि इस्लाम ने हराम-हलाल की जो क़ैदें लगाई हैं, उनकी असल बुनियाद यह नहीं है कि इससे स्वास्थ्य को लाभ पहुँचता है या नहीं और पहुँचता है तो कितना पहुँचता है, बल्कि असल बुनियाद तो मनुष्य के आचार-विचार पर उसका पड़ रहा नैतिक प्रभाव है। इसलिए हराम-हलाल की इसी कसौटी पर आप इस्लाम की तमाम पाबन्दियों को परखिए। आप ख़ुद बोल पड़ेंगे कि इस्लाम का यह मेयार बड़ा ही खरा और सच्चा है। यह बात और है कि इस्लाम ने जिन चीज़ों को हराम करार दिया है उनसे स्वास्थ्य को भी हानि पहुँचती है।

साथ ही यह भी याद रखने की चीज़ है कि इस्लाम ने जीव-हत्या की इजाज़त भर दी है, जानवरों के साथ क्रूरता, निष्ठुरता और कठोरता का व्यवहार करने से मना कर दिया है।

इससे भी उसका यह दृष्टिकोण साफ़ झलकता दिखाई देता है कि 'हत्या—हत्या के लिए' या 'हत्या मन बहलाव के लिए' नहीं होनी चाहिए। हत्या ज़रूरत पड़ने पर, ज़रूरत पूरी करने के लिए होनी चाहिए।

जहाँ जानवरों पर दया दर्शाने की बातें इस तरह की गई हैं कि उनपर दया करो; उनके खाने-पीने का पूरा और उचित प्रबन्ध करो; उन्हें बेवजह मारो-पीटो नहीं, उनसे उनकी ताक़त से ज़्यादा काम न लो, उनके अंगों को उनके जीते जी मत काटो या तोड़ो आदि, वहीं जानवरों को ज़ब्ह करते समय भी दया दर्शाने का हुक्म दिया गया है, ताकि जानवर का प्राण जल्दी निकले और अधिक कष्ट न हो। जैसे तेज़ छुरी से ज़ब्ह करने का हुक्म दिया गया, जानवर का पेट भर देने और उसकी प्यास बुझा देने का आदेश जारी किया गया, आदि।

यह तो था इस्लाम का धार्मिक पहलू, तनिक इस हैसियत से भी तो विचार कीजिए कि क्या सचमुच 'जीव-हत्या' कोई निन्दनीय काम है? अगर यह निन्दनीय काम होता तो सोचने की बात थी कि संसार की लगभग पूरी आबादी इसे क्यों सही समझती और लगभग सभी धर्मों में जीव-हत्या की इजाज़त क्यों पाई जाती?

फिर यह पहलू भी विचार करने योग्य है कि जो लोग जीव-हत्या का नाम सुनकर घिन खाते हैं और मुँह बना लेते हैं, वे क्या सच में जीव-हत्या जैसे 'अपराध' में भागी नहीं होते? राह चलते और साँस लेते समय जो कीटाणु अनचाहे व अनजाने ही शरीर से टकराकर या शरीर के भीतर घुसने के कारण मौत के ग्रास बन जाते हैं, उनकी बात जाने दीजिए, जान-बूझकर भी उनकी हत्या हो ही जाती है, ऐसा वैज्ञानिकों का विचार है।

आज यह बात ढकी-छिपी नहीं है कि मनुष्यों और जानवरों की तरह पेड़ और पौधों में भी जान है। जैसे जानवर को मारा जाए तो उसका प्रभाव उसके चेहरे पर प्रकट होता है वैसे ही अगर कोई पेड़ काटा जाए तो उसकी पीड़ा उसके पत्ते-पत्ते पर चिह्न बनकर उभर आती है। जानवर और पेड़-पौधे प्राण के मामले में समान हैं। पेड़-पौधों की अपनी एक दुनिया है जिसमें वे रहते-बसते, उगते-बढ़ते और अपने जीवन का निर्वाह करते हैं, जैसे कि जानवरों का अपना एक संसार होता है जिसमें वे पलते-बढ़ते और रहते-सहते हैं। वैज्ञानिकों की इस खोज पर सभी सहमत हैं और पूरे भरोसे के साथ तमाम लोग इस पर विश्वास करते हैं। आप कहते हैं मुझे जीव-हत्या से घृणा है, लेकिन आप सब्ज़ी-तरकारी, दालें आदि जो खाते हैं, क्या यह जीवों की हत्या नहीं है? आप पेड़ों को काटकर अपने मकान बनवाते हैं, क्या यह पेड़ों की हत्या नहीं है? आप घासों पर टहलते और चलते हैं, क्या यह उनके साथ अन्याय व अत्याचार का व्यवहार नहीं है? आख़िर कहाँ तक गिनाया जाए? यह दशा उस समय और करुण बन जाती है जब आप इन्हें खाते और इस्तेमाल करते ही नहीं, बल्कि पकाते भी हैं, जलाते भी हैं जूतों में लगी बड़ी-बड़ी कीलों को इनके सिरों में, कोमल शरीर में

गड़ाते हैं। ताज्जुब है कि आपको इन हत्याओं का एहसास नहीं होता जो हर क्षण, हर जगह बहुत बड़ी संख्या में हो रही है और आप तड़प उठते हैं उस जीव-हत्या पर जिसे पूरी सावधानी के साथ एक क़साई अपने हाथों से अंजाम देता है। अजीब बात है कि आप क़साई द्वारा की हुई हत्या पर तो घिन खा जाते हैं और आगे बढ़कर इस्लाम सरीखे उच्च सिद्धांतोंवाली और पसन्दीदा जीवन-व्यवस्था से भी घृणा करने लगते हैं, पर अपने हाथों की गई लाखों-करोड़ों हत्याओं का आपको एहसास नहीं होता। क्यों?

आप जिस दलील से एक को सही साबित करने की कोशिश करें, मेरा आप से अनुरोध है कि उसी दलील के आधार पर, दूसरों को भी सही समझ लें। और फिर आप देखें कि इस्लाम का यह दृष्टिकोण सही है या नहीं?

"यह पूरी सृष्टि मनुष्य के लिए ही पैदा की गई है, इसलिए उसे अधिकार है कि वह इसका उपयोग करे। जानवर हों या पेड़-पौधे, इस मामले में सभी बराबर हैं।"

हो सकता है अब भी आप कहें कि जीव-हत्या बहरहाल है 'घिनौना काम' चाहे उसे जैसे भी न्यायोचित सिद्ध कर दिया जाए। इसका जवाब ही मेरे पास क्या है? यह आपकी अपनी रुचि और अपनी पसन्द है। आपको एक चीज़ नहीं पसन्द है, न पसन्द हो। लेकिन यही रुचि और पसन्द पूरे समाज की बनाने की आपकी इच्छा है तो मैं नहीं समझता कि आपकी यह इच्छा कहाँ तक न्यायसंगत है। इस संसार में बहुतों को करेला पसन्द नहीं है, अनेक कटहल नहीं खाते, कुछ को भिण्डी से चिढ़ होती है। अगर ये तमाम लोग अपनी-अपनी रुचि दूसरों पर लादना चाहें और यह कहें कि जो लोग ये और ये चीज़ें खाएँगे, वे लाख अच्छे और भले सही, पर यह 'घिनौना काम' पूरे पर पानी फेर देता है, तो आप ही सोचें कि उनकी यह इच्छा और उनकी यह बात कहाँ तक उचित और सही समझी जाएगी। ऐसे ही अगर आप यह कहते हैं कि इस्लाम की हर बात पसन्द है और उसका हर सिद्धान्त बेहतर है, पर उसका जीव-हत्या की इजाज़त दे देना कैसे भी उचित नहीं जान पड़ता, बल्कि इससे आपके मन में घिन ही पैदा होती है, तो मैं आप से निवेदन करूँगा कि यह आपकी निजी रुचि और आपका अपना रुझान है, आप इस पर किसी सिद्धान्त को बलि न दीजिए, किसी उचित व्यवस्था को ठुकराइए नहीं, बल्कि उसे गले लगाइए और अपने जीवन में, आचार-विचार का सामंजस्य पैदा करने की कोशिश कीजिए।[1]

---

1. इस विषय पर 'मांसाहार और दयाभाव' नामक पुस्तक अवश्य पढ़ें।

(7)

# यह क़ुरबानी

हर साल ईदे क़ुरबाँ (बक़रईद) के मौक़े पर नमाज़ के साथ क़ुरबानी की रस्म अदा की जाती है और जब भी यह रस्म अदा की जाती है अपने साथ यह सवाल ज़रूर छोड़ जाती है कि इतने बड़े पैमाने पर यह जीव-हत्या क्यों ?

इस सवाल का एक जवाब तो यह है कि व्यक्तिगत क़ुरबानी हो या सामूहिक, इस पर आपको नाक-भौं चढ़ाने की ज़रूरत नहीं। यह कोई निंदनीय काम नहीं, इसलिए कि :–

(1) पूरी दुनिया की बहुत बड़ी आबादी मांसाहारी है और जीव-हत्या को सही समझती है।

(2) विज्ञान के अनुसार आज यह बात साबित हो चुकी है कि जिस तरह हर जानवर जान रखता है, वैसे ही पेड़-पौधों में भी जान है। इसलिए पेड़ काटकर लकड़ियाँ जलानेवाले और साग-भाजी और तरकारियाँ खानेवाले भी 'जीव-हत्या' ही करते हैं, मानो जीव-हत्या से किसी के लिए छुटकारा नहीं।

(3) फिर यह कि इस जगत में मनुष्य सर्वश्रेष्ठ जीव है, दूसरे शब्दों में यह कहा जाए तो सही होगा कि यह संसार और इसकी तमाम वस्तुएँ मनुष्य के इस्तेमाल व उपयोग के लिए हैं। वह इस ज़मीन का पानी पीता है, इसी ज़मीन का पैदा किया हुआ अनाज खाता है, इसी ज़मीन पर उगनेवाले पेड़-पौधों को इस्तेमाल करता है, तो फिर क्यों न इस ज़मीन के जीव-जन्तुओं का उपभोग करे। और क़ुरबानी इसी उपभोग का एक रूप है।

(4) एक बात यह भी कही जाती है कि पेड़-पौधों के काटने और उखाड़ने में इन्हें जो भी पीड़ा होती हो, पर जानवरों के काटने और उनका बध करने पर उनके तड़पने और तड़प-तड़पकर जान देने का जो हृदयविदारक दृश्य होता है, वह असह्य है, इसलिए जीव-हत्या न होनी चाहिए।

हम समझते हैं कि यह आपत्ति किसी सिद्धान्त या नियम पर कोई आपत्ति नहीं है, बल्कि यह तो मनुष्य के स्वभाव-मात्र का प्रदर्शन है, इसलिए इस आधार पर किसी सिद्धान्त के ग़लत होने की बात सही नहीं हो सकती। ख़ुद सोचिए, हमारे जीवन में जानवरों के तड़प-तड़पकर जान देने का ही दृश्य क्यों ? एक से एक ऐसे दृश्य आते हैं जिन्हें देखकर रोंगटे खड़े हो जाते हैं, पर हम उन्हें सहन करते हैं और चुप रहते हैं। किसी बड़े अस्पताल में आपने ऑपरेशन होते देखा होगा, किसी लड़ाई के मैदान में आपने वीर सैनिकों को मरते-मारते, कटते-काटते

देखा होगा, कितना हृदयविदारक दृश्य होता है यह, पर आप इन दृश्यों को देखकर भी चुप रहते हैं। क्यों नहीं पकड़ लेते डॉक्टर के हाथ को, क्यों नहीं रोक देते मारती-काटती और ख़ून बहाती सेनाओं को? शायद आप किसी बड़े उद्देश्य के लिए इसे सहन कर जाते हैं और चुप हो जाते हैं। ठीक ऐसे ही 'मानव-जीवन' की सेवा जैसे बड़े उद्देश्य को प्राप्त करने के लिए अगर 'जीव-हत्या' की जाए और आपको यह दृश्य देखना पड़ जाए तो आप उसे सह जाइए और अगर सहना कठिन हो तो कम से कम उसकी निंदा तो न कीजिए।

लेकिन फिर भी इस समय हम साधारण 'जीव-हत्या' पर कुछ कहना नहीं चाहते, बल्कि आपका ध्यान बक़रईद के मौक़े पर की गई क़ुरबानियों की ओर मोड़ना चाहते हैं। ऊपर ही ऊपर देखनेवाली आँखों के लिए यह 'जीव-हत्या' तो ज़रूर है, पर सच में यह इस बात का ख़ामोश इक़रार है कि हमारी जान अल्लाह की राह में भेंट चढ़ चुकी है। अल्लाह की राह में जानवर की क़ुरबानी करना सच में अपने आपको 'क़ुरबान' करना है। यह जानवर का ख़ून बहाना वास्तव में इस बात का पता देता है कि अल्लाह की ख़ुशी का तक़ाजा जब भी होगा, हम ख़ुद अपना ख़ून बहाने के लिए तैयार हैं, वरन् जानवर का बध स्वतः न धर्म है, न संयम।

बक़रईद के मौक़े पर हर साल क़ुरबानी करते वक़्त की यही सच्ची स्प्रिट है और शुद्ध भावना।

तनिक आप उस घटना को याद कीजिए, जिसकी बुनियाद पर अल्लाह ने इसका हुक्म दिया।

हज़रत इबराहीम एक बूढ़े आदमी थे। उन्होंने सत्य-धर्म के प्रचार व प्रसार में अपना पूरा जीवन लगा दिया था। वह पैग़म्बर थे और थे लगन के आदमी। क़ुरआन मजीद के शब्दों में—

> "...... और नूह ही के रास्ते पर चलनेवाले एक इबराहीम भी थे। याद करो वह समय कि अपने शुद्ध मन से पालनहार की ओर लौटे और यह कि अपने बाप और अपनी जाति के लोगों से उसने कहा, 'ये मूर्तियाँ क्या चीज़ हैं जिनकी तुम पूजा करते हो? अल्लाह के अलावा क्यों झूठ-मूठ दूसरे उपास्यों के पीछे पड़े हो? फिर तुमने संसारों के पालनहार को क्या समझ रखा है?'......... और जब इबराहीम को उसके बाप ने घर से निकाल दिया, तो इबराहीम ने कहा, मैं तो अपने पालनहार की राह में उस तरफ़ को चला जाता हूँ, वह मुझे किसी अच्छे ठिकाने लगा ही देगा.........।"

बुढ़ापे में इन्हीं पैग़म्बर इबराहीम की दुआओं के नतीजे में एक बेटा पैदा

हुआ, आँखों का तारा, कलेजे का टुकड़ा। इस बेटे से हज़रत इबराहीम व
कितना प्रेम रहा होगा, इसका सहज ही अन्दाज़ा लगाया जा सकता है। फिर बे
जब बाप का फ़रमाँबरदार हो, समझदार हो और बाप का सही उत्तराधिकारी
अपने को साबित कर रहा हो तो बाप का बेटे के प्रति प्रेम दुगना और तीन गु
बढ़ जाता है, घटने का सवाल ही नहीं।

बेटे का नाम इसमाईल था, जो बाद में पैग़म्बर हुए।

फिर लड़का जब जवान हो गया तो एक दिन हज़रत इबराहीम ने ए
सपना देखा। सपने में उन्होंने अपने हाथों अपने बेटे को ज़ब्ह करते देखा
सपना एक दिन, दो दिन, तीन दिन...... बराबर आता रहा। समझ गए कि य
उनके पालनहार की ओर से कोई इम्तिहान है, ऐसा इम्तिहान जिससे उनके ईमा
को परखा जा सके। आप सोचिए बाप का दिल अपने बेटे के लिए इस सम
क्या फ़ैसला कर रहा है और क्यों फ़ैसला कर रहा है? अपने स्वामी को ख़ु
करने की कैसी शुद्ध भावना है और कैसा है परम त्याग। काश! यह आद
हम भी प्रस्तुत कर सकते और अपने पैदा करनेवाले के लिए अपना सब कु
त्याग सकते।

बाप को यक़ीन है कि बेटा भी अपने पालनहार की प्रसन्नता पर अपने व
बलि देने पर तैयार हो जाएगा, इसलिए कि अब तक की उसकी रीति यही र
है। ऐसी हालत में बेटे को छिपे-चोरी ज़ब्ह करने से क्या फ़ायदा।

इबराहीम ने बेटे इसमाईल से कह ही दिया—

"बेटे! मैंने सपना देखा है कि मैं तुमको ज़ब्ह कर रहा हूँ, शायद हमारे ब
पालनहार की यही मरज़ी है, तो तुम भी अपनी जगह पर सोचो कि तुम्हारी क्य
राय है?"

योग्य बेटे ने जवाब दिया—

"पालनहार की प्रसन्नता के लिए मेरी बलि? उसी ने पैदा किया, वही जा
माँग रहा है, क्या हर्ज? पिताजी! आप ख़ुशी से मुझे ज़ब्ह कीजिए औ
इम्तिहान में कामयाब होइए।"

फिर जब दोनों बाप-बेटे पालनहार के आदेशानुसार चले और बाप ने ज़ब
करने के लिए बेटे को माथे के बल पछाड़ा तो कितना हृदयविदारक दृश्य रह
होगा। बाप बेटे को ज़ब्ह करने जा रहे हैं और बेटा भी ज़ब्ह होने के लिए तैया
है, न उछल-कूद, न भाग-दौड़—आख़िर ऐसा क्यों था? सिर्फ़ इसी लिए त
बाप-बेटे इस ख़ूनी दृश्य के पात्र बन रहे थे कि यही उनके पालनहार का हुक्म
था, उनके पैदा करनेवाले की यही मरज़ी थी और इसी मरज़ी और हुक्म को पूर
करने के लिए बाप, बेटे की गरदन पर छुरी चला रहा था।

भक्ति और आज्ञापालन का यह आदर्श !

त्याग और बलिदान का यह आदर्श ! !

सत्य-पथ पर कठिनाइयों को सहर्ष सहने का यह आदर्श ! !

इस आदर्श के बाद भी अगर परीक्षा में सफलता न मिले तो हद ही है। प्र आदर्श के बाद पालनहार की प्रसन्नता मिलनी ही थी, उसने पुकारकर हा—

> "ऐ इबराहीम ! तुमने अपने सपने को सच कर दिखाया। अब हम तुम्हें बड़े ऊँचे पद देंगे और सच तो यह है सच्चे भक्तों और आज्ञापालकों को हम ऐसा ही बदला दिया करते हैं।"

इस आवाज़ ने हज़रत इसमाईल को ज़ब्ह होने से बचा लिया और हज़रत राहीम ने अल्लाह के हुक्म से प्रतिदान (फ़िदिया) के रूप में मेंढे की क़ुरबानी दी।

क़ुरबानी की यही वह याद है जिसे आज भी बक़रईद के दिन मुसलमान ानवरों की क़ुरबानी करके हर साल ताज़ा करते हैं। सच पूछिए तो यह रबानी नहीं है, बल्कि उस शुद्ध भावना और परम त्याग की याद है जिसका र्शन आज से हज़ारों साल पहले इन दो बुज़ुर्ग बाप-बेटों ने किया था। यह रबानी उस आदर्श की याद ताज़ा करती है जो भक्ति और आज्ञापालन का ादर्श है, त्याग और बलिदान का आदर्श है। और सत्य-पथ पर कठिनाइयों को हर्ष सहने का आदर्श है।

यह क़ुरबानी किसी जानवर के बध का नाम नहीं है, बल्कि यह कहानी है ससे मानव-जीवन का मक़सद उभरकर सामने आता है, जिससे जीवन बिताने सही तरीक़ा मालूम होता है, जिससे आपसी ताल्लुक़ात पर रौशनी पड़ती है र जिससे रचना और रचयिता या आत्मा और परमात्मा के सम्बन्धों की नकारी होती है।

इसलिए ज़रूरी है कि क़ुरबानी को इन्हीं शुद्ध भावनाओं की दृष्टि से देखा ना चाहिए।

## (8)

# बिलकुल सही है परदा

एक बार चौपाल में परदे पर बहस छिड़ गई। एक साहब कहने लगे—

"परदा पुराने ज़माने की यादगार है, जबकि सभ्यता ने इतना पैर फैलाया भं
नहीं था कि औरतों को मैदान में निकलने की ज़रूरत पड़े। आज तो औरतों के
मर्दों के कन्धे से कन्धा मिलाकर चलना ही पड़ेगा। वरन् काम कैसे बनेगा?"

"जी हाँ, आपने सही कहा", एक दूसरे सज्जन का उद्गार था यह, "अब
देखिए ना, आज नारी-जाति में कितनी चेतना भर उठी है, उनकी आँखें खुल गः
हैं, उनमें उत्साह उमड़ पड़ा है और वे इस योग्य हो गई हैं कि इस जगत् में व
कुछ कर दिखाएँ जिसकी उनसे कभी आशा ही नहीं की गई। क्या यह सब
कुछ परदा हटाने के बाद ही सम्भव नहीं हो सका है?"

एक तीसरे साहब बोले—

"आख़िर ये उच्च शिक्षा-प्राप्त लड़कियाँ, उच्च स्तर का जीवन बितानेवाल
लड़कियाँ, खुले मन व खुले दिमाग़वाली लड़कियाँ बाहर न निकलेंगी तो क्य
घर की चारदीवारियों में बन्द पड़ी सड़ती रहेंगी।"

मुझसे न रहा गया, वार्ता भंग करते हुए मैंने कहना शुरू किया—

"मेरे भाइयो! जिस देश में परदा डालकर, काम पड़ने पर, बाज़ार
आने-जानेवाली औरतों को चलती-फिरती क़ब्र कहा गया हो, जहाँ बुरक़ेवालिय
के बुरक़ों को देखकर प्रधान मन्त्री सरीखे व्यक्ति क्रोधाग्नि में जल उठते ह
जहाँ हर ओर से परदे के ख़िलाफ़ आन्दोलन ही चला दिया गया हो, वहाँ
निवासियों के यही कुछ विचार होंगे इसमें कोई ताज्जुब की बात नहीं। प
ताज्जुब तो इस पर होता है कि एक खुली हुई हक़ीक़त से लोगों ने आँखें बन
कर ली हैं और उसे समझने की कोशिश नहीं करते। दुख तो इस पर होता
कि समाज की एक बहुत बड़ी आवश्यकता को 'पुराने ज़माने की यादगार
कहकर ठुकराया जा रहा है और उस 'नई रौशनी' पर ही गर्व का अनुभव किय
जा रहा है जो मानवता को आदिकाल की सभ्यता व बर्बरता याद दिलाती है।"

वातावरण मौन हो चुका था और मैं बोले जा रहा था—

"इस समय मैं ज़्यादा कुछ न कहकर आप लोगों से मात्र इतना ही पूछ
चाहता हूँ कि क्या नेकी-बदी, अच्छाई-बुराई भी कोई चीज़ है और आप इ
मानते भी हैं या नहीं?"

"मानते हैं साहब! मानेंगे क्यों नहीं?" सभी एक साथ चिल्ला उठे।

"इससे पहले कि मैं कुछ आगे कहूँ, मैं यह बता दूँ कि अच्छाई क्या है और बुराई क्या है। अच्छाई हर वह चीज़ है जिसपर अन्तरात्मा राज़ी हो जाए और बुराई वह है जो अन्तरात्मा को पसन्द न हो।"

"फिर यह भी तो देखिए", मैंने आगे कहना शुरू किया, "इस जगत् का कोई भी व्यक्ति कभी ज़िना, व्यभिचार और अपहरण आदि को पसन्द नहीं करता और सदाचार-सत्कर्म आदि सबको पसन्द है।"

"जी हाँ, सही तो है।" सभी बोल पड़े।

"तो फिर आप ख़ुद ही विचार कीजिए कि जब सभी ऊपर वर्णित बुराइयों को फूटी आँखों भी पसन्द नहीं करते और ये फैलती ही जा रही हैं तो इनके क्या कारण हो सकते हैं और अगर इनमें से कोई कारण मालूम हो जाए तो क्या आप लोग मानवता के नाते उसे दूर करने की कोशिश नहीं करेंगे?"

"क्यों नहीं, ज़रूर करेंगे।" फिर एक साथ सभी बोल पड़े।

"तो मैं आपको बताता हूँ कि इन बुराइयों का मुख्य कारण है परदे का न होना और औरतों का खुलेआम मर्दों में घुल-मिलकर चलना-फिरना।"

"यह कैसे? मेरी समझ में तो आता नहीं।" एक सज्जन बोल पड़े।

"ऐसे मौक़े पर मुझे एक घटना याद आ रही है, जो आपके इस प्रश्न का उत्तर भी है। मैंने कहना शुरू किया—"एक बार जब एक धार्मिक व्यक्ति से कुछ कथित पढ़े-लिखे व्यक्तियों ने परदे के बारे में तर्क-विर्तक शुरू किया तो उन्हें तो और कुछ न सूझा, बस टोकरी में से एक नीबू निकाला और काटकर उसके दो टुकड़े कर दिए, फिर उन व्यक्तियों से यूँ कहने लगे—

"आप मानवतावादी हैं, इसलिए मैं आपको मानवता की शपथ देकर कहता हूँ कि सच-सच बताइए, आपके मुँह में पानी आया या नहीं?"

उन लोगों ने बुरा-सा मुँह बनाते हुए कहा, 'यह तो स्वभाविक बात है कि खट्टी चीज़ देखकर मुँह में पानी आ ही जाता है।"

'बिना कटे हुए नीबू को देखकर भी मुँह में पानी आया था?'

'जी नहीं, मौलाना!'

"तो कटे हुए नींबू को देखकर आपने अपनी मनोकामनाओं को वश में क्यों नहीं रखा? श्रीमान्! यह भी स्वाभाविक ही है कि बेपरदा बनी-सजी औरत को देखकर मनोभावनाएँ उग्र हो उठती हैं। यह था उन धार्मिक व्यक्ति का उत्तर। मेरा विचार है कि आप समझ गए होंगे कि किस तरह बेपरदगी ऊपर कही गई बुराइयों को बढ़ावा दे रही है और स्पष्ट है कि ज़िना, व्यभिचार व अपहरण का किसी समाज में बढ़ते ही जाना मानवता के लिए बहुत घाटे की बात है।"

"आपने बहुत ठीक कहा श्रीमान् !" एक दूसरे सज्जन ने अपने विचार प्रकट करते हुए कहा, "पर यह तो बताइए कि नारी-जाति के लिए यह कितने अन्याय की बात होगी कि उन्हें तो आप घर की चहारदीवारियों में बन्द कर दें और अपने समाज के हर-हर मैदान में विचरते फिरें।"

"लेकिन मेरे भाई !" मैंने कहना शुरू किया, "यही तो समझ का फेर है। आप जिसको अन्याय समझते हैं, मैं उसी को न्याय कहता हूँ। आप को भी तो अनुभव होगा कि आप गायों को सानी-दाना देकर घर के अहाते ही में बन्द रखते हैं, फिर दुधारी गायों की आप जितनी कुछ भी देख-भाल करते हैं, उसका उल्लेख भी नहीं किया जा सकता, पर बैलों को हमेशा खेतों और मैदानों ही में जोतते और दौड़ाते रहते हैं, भले ही गर्मी हो या जाड़ा, बरसात हो या आँधी-पाला। आखिर ऐसा क्यों है ? केवल इसी लिए तो कि बैल का क्षेत्र अलग है, गाय का अलग। बैल जिस काम के लिए पैदा किए गए हैं उसमें वे दक्ष हैं और गायों का जो काम है, उसमें वे समर्थ। ठीक इसी तरह औरत जिस काम के लिए पैदा की गई है, उसे वहीं तक सीमित रखिए। मर्दों का जो काम है उसे उन्हीं पर छोड़ दीजिए। सच पूछिए तो यही न्याय है और यही कुछ होना भी चाहिए।"

"बिलकुल सही !"

"बिलकुल सही !"

"बिलकुल सही !"

हर ओर से यही आवाज़ आने लगी और मैं चुप हो गया।

(9)

# औरत का सही मक़ाम

एक बार एक इस्लामिक यूथ आर्गनाइज़ेशन ने उस समय हो रही स्थानीय नुमाइश में औरतों से वहाँ न जाने की अपील की, ऐसा उन्होंने धार्मिक सिद्धान्तों की बुनियाद ही पर नहीं, बल्कि तजुर्बों और हालात के तहत भी ज़रूरी समझा, जिसका फल यह निकला कि उस बार गुण्डों को शरीफ़ औरतों से छेड़-छाड़ करने, यहाँ तक कि उनकी इज़्ज़त लूट लेने का मौक़ा नहीं मिल सका। आर्गनाइज़ेशन का यह इतना बड़ा कारनामा था कि इस पर हर किसी को प्रसन्न होना चाहिए था, लेकिन हमें अफ़सोस के साथ कहना पड़ता है कि औरतों की पश्चिम की कथित अज़ादी पर मुग्ध कुछ सज्जनों से यह शुभ काम भी न देखा गया और इसकी निन्दा शुरू कर दी और यहाँ तक कहने लगे कि इससे औरतें क़ैद हो जाएँगी, उनकी स्वतंत्रता छिन जाएगी, उन्हें समाज में नीच बना दिया जाएगा, आदि।

इस्लाम ने औरतों को जितने कुछ और जैसे कुछ भी अधिकार दिए हैं, हम यहाँ उनसे बहस नहीं कर रहे हैं और न ही हम इस समय यह समस्या ही खड़ी करना चाहते हैं कि औरतों का, उनकी रचना और क्षमता के एतबार से समाज में क्या स्थान होना चाहिए और उनका असल क्षेत्र क्या है। हाँ, इतना हम ज़रूर कहेंगे कि औरतों की दासता, हीनता, आदि से हमदर्दी रखने का जो हौवा ऐसे लोगों पर सवार है, वह सही नहीं है। हम दूसरे धर्मों के बारे में तो कुछ नहीं कहते, हाँ इस्लाम के बारे में पूरे भरोसे से बता सकते हैं कि उसने औरत को उसका सही स्थान दिया है, शिक्षा पर उसे उभारा गया है, शादी-ब्याह में मर्दों की तरह रज़ामन्दी ज़रूरी समझी गई है, तलाक़ लेने का उसे अधिकार है, ज़रूरत के समय वह घर से बाहर निकल भी सकती है, अगर क्षमता और योग्यता है तो नेतृत्व की ज़िम्मेदारी भी अपने हाथ में ले सकती है, उसे इन्जीनियर, डॉक्टर, टीचर सभी कुछ बनने का अधिकार है, उसे विरासत में भी हिस्सा दिया गया है, उसके पति और दूसरे नातेदारों पर न जाने कितने अधिकार हैं—लेकिन यह सब कुछ होने के बावजूद औरत बहरहाल औरत है। वह मर्दों के मुक़ाबले में न तो इतनी क्षमता व योग्यता रखती है कि उनकी पूरी बराबरी कर सके, न नारी-स्वभाव इसकी इजाज़त देता है और न ही इतिहास की इस पर कोई गवाही है। दो-एक मिसाल अगर मिल भी गईं तो इसे नियम नहीं बनाया जा सकता। अपने स्वभाव और रचना के एतबार से औरत का अपना एक क्षेत्र है। अपने ही

क्षेत्र में रहकर अपनी योग्यताओं और क्षमताओं का प्रयोग जितने सुन्दर ढंग से औरतें कर सकेंगी उतना मर्दों के क्षेत्र में घुसकर नहीं कर सकतीं।

आज के वैज्ञानिक युग में कामों के बँटवारे और किसी एक कला में दक्षता प्राप्त करने सरीखे नियम के तहत जैसे, मिलों और फ़ैक्ट्रियों में काम होता है, क्यों न इस नियम को घरों और परिवारों में लागू किया जाए। ऐसा करने से अगर वहाँ उत्पादन शक्ति बढ़ती है तो यहाँ सुख-शान्ति में बढ़ोत्तरी होगी, ऐसा हमारा विश्वास है।

यह तो था समस्या का सामाजिक पहलू। रहा इसका नैतिक पहलू तो इस पर हम बार-बार लिख चुके हैं और बराबर यह बताते रहे हैं कि औरतों का मर्दों से बेरोक मेल-मिलाप बहुत-सी बुराइयों की जड़ है। इस तरह उनमें जो बेहयाई पैदा होती है और उनके जीवन का मूल-तत्व जिस तरह अपनी मौत आप मर जाता है, वह तो है ही, समाज में ज़िना, व्यभिचार, बलात्कार आदि की जड़ें भी गहरी से गहरी होती चली जाती हैं।

कैसी अजीब बात है कि इतनी पाबन्दियों के बावजूद जब बुराइयों के सोते फूट निकलते थे, तो ये पाबन्दियाँ भी जब उठ जाएँगी तो क्या बुराई की नदियाँ सदा के लिए जारी न हो जाएँगी? आज अवैध बच्चों की जो बाढ़ पाई जा रही है, नाबालिग़ों में जरायम के जो रुझान पैदा होते जा रहे हैं, आत्महत्या की जो घटनाएँ बराबर सुनने में आ रही हैं आख़िर ये सब क्या हैं, क्या यह औरत को उसके क्षेत्र से निकाल कर दूसरे क्षेत्र में पहुँचा देने का नतीजा नहीं है? क्या यह औरत-मर्द के बेरोक मेल-मिलाप का तीखा फल नहीं है? अगर यह सब कुछ सही है तो क्या इस 'नामुनासिब आज़ादी' के लिए समाज को दुराचार की भभकती व दहकती आग में भून देना उचित होगा? क्या इससे सामाजिक शान्ति छिन्न-भिन्न न हो जाएगी? क्या इससे सुखमय परिवारों के ताने-बाने बिखर न जाएँगे? क्या इससे जनमते बच्चों और पनपते लाडलों का भविष्य अन्धकारमय न हो जाएगा? सोचिए! यह सुख, यह शांति, यह परिवार, यह समाज इन सब को इस कथित स्वतंत्रता की वेदी पर बलि देना कहाँ तक उचित होगा?

इतिहास गवाह है कि संसार में जब भी दुराचार फैला है, इसी असन्तुलन की वजह से फैला है। कभी तो औरतों को इतना जकड़ दिया कि वे घुट-घुट कर दम तोड़ने लगीं और कभी ये इतनी आज़ाद हो गईं कि बुराइयों के अड्डे बन कर रह गईं। अभी जल्द ही एक पत्रिका में किसी महिला की एक कहानी छपी थी, जिसमें बताया गया था कि वह है तो एक डॉक्टर की बेटी और प्रोफ़ेसर की पत्नी, विवाह से पहले पिता के घर और विवाह के बाद पति के घर वह जिस

आज़ादी से रहती, उसका नतीजा उसकी इज़्ज़त लुटती रहने की शक्ल में निकला। पिता हो या पति, इनके बहुत-से मिलने-जुलनेवालों ने उसे मन भर भोगा और अन्त में वह पतिव्रता पत्नी न बनकर एक 'आवारा तवायफ़' होकर रह गई—फिर यह सिलसिला उसी समय ख़त्म हुआ, जब उसने पूरे मन से तौबा की और अपने इस्लामी पर्दे का पालन शुरू कर दिया।

हम समझते हैं कि यह करुण कहानी और इसी जैसी न जाने कितनी हमारे समाज में पैदा होनेवाली घटनाएँ, हर ऐसे व्यक्ति की आँखें खोल देने के लिए काफ़ी हैं जो भयानक परिणामों से आँखें बंद किए पश्चिम की ओर सरपट दौड़े जा रहे हैं।

काश! इनकी आँखें खुल सकतीं!

## (10)

# चार शादियों की इजाज़त क्यों?

कुछ लोग कहते हैं कि इस्लाम ने एक ही समय में चार शादियों की इजाज़त देकर नारी-जाति पर बड़ा अत्याचार किया है, भयानक अत्याचार! भला कोई औरत जीते जी अपने ऊपर कैसे कोई सौत पसन्द कर सकती है और किन आँखों देख सकती है कि उसके पति के प्रेम में कोई और साझी हो जाए? यह नारी-प्रकृति के ख़िलाफ़ है, नारी-स्वभाव इसे कभी बरदाश्त कर ही नहीं सकता।

इस्लाम पर ऐसी आपत्ति करनेवाले, सच पूछिए तो :—

(1) वे इस्लाम की इस इजाज़त की सही पृष्टभूमि को नहीं जानते और उन्हें यह तक मालूम नहीं होता कि ऐसा क्यों है और यह किन हालात में सही है, या फिर,

(2) वे बहु विवाह को स्वतः दुष्कर्म समझते हैं और उनका मन किसी हाल में भी इसके औचित्य पर राज़ी नहीं।

क़ुरआन की जिस आयत से चार शादियों की इजाज़त मालूम होती है, वह है—

> "और अगर तुम यतीमों के साथ अन्याय करने से डरते हो, तो जो औरतें तुम्हें पसन्द आएँ, उनमें से दो-दो, तीन-तीन और चार-चार से विवाह कर लो। लेकिन अगर तुम्हें भय हो कि उनके साथ न्याय न कर सकोगे तो फिर एक ही पत्नी करो।" —4 : 3

इस आयत को पढ़िए और विचार कीजिए तो आप इस नतीजे पर पहुँचेंगे कि चार शादियों की यह इजाज़त इस पृष्ठभूमि में है कि यतीम बच्चों और बच्चियों के साथ सुन्दर व्यवहार किया जाए और यह कि औरतों को अपने अन्याय व अत्याचार का कदापि निशाना न बनाया जाए।

ऐसा इसलिए कहा गया कि—

हज़रत अब्दुल्लाह इब्न अब्बास और उनके शिष्य इकरमा के अनुसार इस्लाम से पहले विवाह की कोई सीमा न थी। एक-एक आदमी दस-दस पत्नियाँ रखता था और इस 'भीड़-भाड़' के नाते ख़र्च बढ़ जाता तो मजबूर होकर अपने यतीम भतीजों, भानजों और दूसरे मजबूर नातेदारों के हक़ों पर हाथ साफ़ करता। इस पर पत्नियों के लिए चार की हद क़ायम कर दी गई और कहा गया कि अन्याय व अत्याचार से बचने का तरीक़ा यह है कि एक से लेकर चार तक इतनी पत्नियाँ रखो, जिनके साथ न्याय कर सको।

मुस्लिम धर्मशास्त्री इस पर सहमत हैं कि इस आयत के अनुसार बहु-विवाह को सीमित किया गया है और एक ही समय में चार से अधिक पत्नियाँ रखने से मना किया गया है। हदीसें भी इसकी साक्षी हैं कि ताइफ़ का सरदार ग़ैलान जब इस्लाम लाया तो उसकी नौ पत्नियाँ थीं। पैग़म्बरे इस्लाम ने उसे हुक्म दिया कि चार पत्नियाँ रख लो और बाक़ी को छोड़ दो। ऐसे ही एक-दूसरे व्यक्ति नोफ़ल इब्न मुआविया की पाँच पत्नियाँ थीं। आपने हुक्म दिया कि उनमें से एक को छोड़ दो।

यहाँ यह स्पष्ट रहे कि यह आयत बहु-विवाह की इजाज़त न्याय की शर्त के साथ देती है। जो व्यक्ति न्याय की शर्त पूरी नहीं करता, पर एक से अधिक पत्नियों के रखने की इजाज़त से फ़ायदा उठाता है, वह ईश्वर से द्रोह करता है। इस्लामी राज्य की अदालतों को यह अधिकार प्राप्त है कि जिस पत्नी या जिन पत्नियों के साथ वह न्याय न कर रहा हो, उनकी हिमायत करे।

अब रही यह समस्या कि बहु-विवाह स्वतः कोई दुष्कार्य है तो हम इससे सहमत नहीं हैं, इसलिए कि कुछ परिस्थितियों में तो यह चीज़ एक सांस्कृतिक व नैतिक आवश्यकता बन जाती है। अगर इसकी इजाज़त न हो तो फिर वे लोग जो एक औरत से अपनी वासनाओं की पूर्ति नहीं कर पाते, विवाह की चौहद्दी से बाहर भ्रष्टाचार फ़ैलाने लगते हैं, जिसकी हानियाँ समाज व सभ्यता के पक्ष में उससे कहीं अधिक हैं, जो इससे पहुँच सकती हैं। इसी लिए क़ुरआन ने केवल उन्हीं लोगों को इसकी इजाज़त दी है, जो इसकी ज़रूरत महसूस करें।

तनिक सोचिए तो— बढ़ता हुआ व्यभिचार, वेश्यावृत्ति और कम्पनी गर्ल्स की माँगें, आवारगी और नीचता व अधमता—क्या ये सब भ्रष्टाचार के विभिन्न रूप नहीं है? और क्या भ्रष्टाचार के कारणों में से एक बड़ा कारण यह नहीं है कि मनुष्य के लिए वैध रूप से वासना-तृप्ति के साधनों का जुटाना कठिन हो गया है। अगर ऐसा है तो बहु-विवाह के औचित्य पर आपत्ति क्यों?

(11)

# इस्लाम का दण्ड-विधान

इस्लाम पर आपत्ति करनेवाले इस्लामी दण्ड-विधान को भी अपनी आपत्तियों का शिकार बनाते हैं और कहते हैं कि इस्लाम का दण्ड-विधान उसकी क्रूरता, निष्ठुरता और बर्बरता का पता देता है। उदाहरण के तौर पर वे इस्लाम में तय की गई चोरी की सज़ा को लेते हैं और कहते हैं कि इस बीसवीं सदी में जबकि 'मानवता' सभ्यता की चरम सीमा को छू रही है, चोरी करनेवाले के हाथ को काटना एक ओर तो क्रूरता व निष्ठुरता की याद ताज़ा करता है और दूसरी ओर बर्बरता का प्रमाण भी प्रस्तुत करता है।

हम चाहते हैं कि इस्लाम पर की गई इस आपत्ति का यहाँ उत्तर दें।

चोरी की सज़ा के तौर पर क़ुरआन ने जो आदेश दिया है वह इस प्रकार है—

> "और चोर भले ही वह औरत हो या मर्द, दोनों के हाथ काट दो, यह उनकी कमाई का बदला है और अल्लाह की ओर से शिक्षाप्रद दण्ड, अल्लाह सर्वशक्तिमान और तत्वदर्शी है।" —5:38

और आगे चलकर कहा गया है—

> "फिर जो कोई ज़ुल्म करने के बाद तौबा करे और अपना सुधार कर ले तो अल्लाह की कृपा-दृष्टि फिर उस पर पड़ने लगेगी। अल्लाह अधिक क्षमा करनेवाला और कृपा करनेवाला है।" —5:39

स्पष्ट रहे कि यहाँ पहली आयत में चोरी की सज़ा निर्धारित की गई है, इस तरह कि इस लोक में व्यक्ति व समाज के सुधार के लिए चोर का हाथ काट दिया जाए, पर यह अपराध इतना बड़ा और प्रभावों के अनुसार व्यापक है कि अगर इसके बाद अपराधी ने तौबा न की और अल्लाह से क्षमा-याचना न की, तो समझ ले कि परलोक का दण्ड तो इससे भी अधिक कठोर है।

सवाल यह है कि चोरी की सज़ा ऐसी कड़ी क्यों, इससे आसान क्यों न रखी गई?

इस प्रश्न का उत्तर ढूँढने से पहले यह जान लेना ज़रूरी है कि चोरी है क्या और उसका व्यक्ति व समाज के जीवन पर क्या प्रभाव पड़ता है, इसलिए कि चोरी सरीखे अपराध की गम्भीरता आदि को जान लेने के बाद ही उसके लिए निर्धारित किए गए दण्ड की क्रूरता व नम्रता का सही अन्दाज़ा किया जा सकता है।

वास्तव में चोरी नाम है किसी दूसरे व्यक्ति की मिल्कियत (स्वामित्व) को बिना उसकी आज्ञा के अपनी मिल्कियत में ले लेना, जो एक प्रकार का अत्याचार है, अन्याय है और है मानवता के प्रति एक प्रबल आघात। फिर यह बात भी नहीं है कि एक व्यक्ति की मिल्कियत दूसरे के हाथ में पहुँच गई, बल्कि उस अपराध का प्रभाव व्यक्ति व समाज के जीवन पर इतना व्यापक होता है कि देश व राष्ट्र तक इससे प्रभावित हुए बिना नहीं रहते।

तनिक विचार तो कीजिए, एक व्यक्ति चोरी का इरादा करता है तो मानो वह न्याय व प्रेम, भ्रातृत्व व सौहार्द्र, सहयोग व सहानुभूति की नींव पर खड़ी इमारत को ढा देना चाहता है, वह चोरी के लिए क़दम उठाता है तो मानो उसने अपने मन से मानवता का सम्मान उठाकर एक ऐसे रुख़ पर अपने को डाल दिया है जिससे जान, माल और आबरू की सुरक्षा सन्दिग्ध हो जाती है, वह अँधेरी रात में किसी ग़ैर के मकान की ओर बढ़ता है तो मानो वह अन्तरात्मा का गला घोंट कर, नैतिकता को पाँवों तले रौंदकर, एक ऐसे अपराध की कालिख अपने चेहरे पर लगाने जा रहा है जो केवल उसको ही मानव से दानव नहीं बनाएगा, बल्कि जो समाज के विभिन्न विकारों का मूल बनेगा। फिर वह चोरी करता है तो मानो वह अपने को कलंकित करता है, दुराचार का प्रमाण प्रस्तुत करता है, बलात दूसरों की सम्पत्ति हड़प करता है, साथ ही कलह, द्वेष, वैमनस्य और दंगों को जन्म देकर समाज को एक ऐसे विनाश-मार्ग पर डाल देता है कि जिससे देश व राष्ट्र की चूलें हिल जाती हैं, समाज की जड़ें खोखली हो जाती हैं और हर ओर बनाव के बजाय बिगाड़ ही बिगाड़ दीख पड़ने लगता है।

आप बताइए कि जो अपराध इतना बड़ा हो, जो जुर्म इतना भयानक हो और जिसके प्रभाव इतने दूरगामी हों, क्या उसके लिए एक ऐसा दण्ड नहीं निश्चित किया जाना चाहिए जिससे अपराधों में कमी हो। स्पष्ट है कि इस्लाम का इस सिलसिले का निर्धारित दण्ड ऐसा ही है कि जिससे अपराधों में कमी हो सके, जिससे लोग शिक्षा ग्रहण कर सकें और बिगाड़ का दरवाज़ा बन्द हो सके।

साथ ही यह बात भी विचारने की है कि इस्लामी व्यवस्था जिस वातावरण को जन्म देती है, उसमें जिस प्रकार अपराध-वृत्ति को दबा दिया जाता है, अपराध पर उभारनेवाली प्रेरक वस्तुओं पर पाबन्दी लगा दी जाती है और वातावरण में जो शुद्धता, सहानभूति और भाईचारे को स्थापित किया जाता है उसकी मौजूदगी में भी चोरी जैसे अपराधों का होना उसे और भयानक बना देता है। ज़ाहिर है जो अपराध जितना ही भयानक होगा, उसकी सज़ा उतनी ही कठोर होगी।

फिर बात ऐसी भी नहीं कि चोरी के लिए इस्लाम में निर्धारित किया गया

दण्ड किसी क्रूरता व बर्बरता का पता देता हो, ऐसा समझना भ्रम मात्र है इसकी कोई हक़ीक़त नहीं।

इसमें सन्देह नहीं कि इस्लाम में चोरी की सज़ा हाथ काटना निर्धारित की गई है, पर हर प्रकार की चोरी में नहीं। जैसे हज़रत मुहम्मद (सल्ल०) का आदेश है कि फल और तरकारी की चोरी में हाथ न काटा जाएगा। खाने की चोरी में हाथ नहीं कटेगा। हज़रत आइशा (रज़ि०) के एक कथन से मालूम होता है कि नबी (सल्ल०) के समय में मामूली चीज़ों की चोरी में हाथ नहीं कटता था। इसी तरह हज़रत अली (रज़ि०) और उस्मान (रज़ि०) का फ़ैसला है और सहाबियों में से किसी ने इस मामले में विरोध भी नहीं किया है कि चिड़ियों की चोरी में हाथ काटने की सज़ा नहीं है। ऐसे ही हज़रत उमर व हज़रत अली (रज़ि०) ने बैतुलमाल से चोरी करनेवाले का हाथ भी नहीं काटा और इस मामले में भी किसी सहाबी का मतभेद कहीं देखने में नहीं आया। इसी कारण इमाम अबू हनीफ़ा ने कहा है कि तरकारियाँ, फल, मांस, पका हुआ खाना, अन्न जो अभी खलिहान से घर न लाया गया हो, खेल और गाने-बजाने के सामान ऐसी चीज़ें हैं जिनकी चोरी में हाथ काटने की सज़ा नहीं है और जंगल में चरते हुए जानवरों की चोरी और बैतुलमाल से चोरी करने में भी वे हाथ काटने के पक्ष में नहीं हैं। इसी तरह दूसरे इमामों ने भी कुछ चीज़ों को इस हुक्म का अपवाद माना है, पर इसका अर्थ यह नहीं कि इन चोरियों पर सिरे से कोई सज़ा ही न दी जाएगी, तात्पर्य यह है कि इन अपराधों में हाथ न काटा जाएगा।

इसी तरह नबी (सल्ल०) का यह आदेश भी है कि एक ढाल की क़ीमत से कम की चोरी में हाथ न काटा जाए। स्पष्ट रहे कि ढाल की क़ीमत उस समय तीन दिरहम से लेकर दस दिरहम तक थी। हज़रत आइशा (रज़ि०) के कथनानुसार 25 दीनार के लगभग थी।

चोरी के इस दण्ड को सामने रखकर इस्लाम के पूरे दण्ड-विधान पर विचार कीजिए और बताइए कि क्या वास्तव में आपत्ति करनेवालों की आपत्ति सही है?

* * * * * *